वेद भारतीय संस्कृति के मूल हैं। वेद में राष्ट्रवासियों के शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक अभ्युदय के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की नींव डाली गई जिसमें न कोई किसी का शोषण कर सके और न कोई किसी के साथ अन्याय; साथ ही योग्यता और क्षमता के अनुकूल काम मिलने की व्यवस्था रहे।

प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, वस्त्र, घर, चिकित्सा और शिक्षा यथोचित मात्रा में उपलब्ध कराकर ही राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से समुन्नत और समृद्ध बन सकेगा। राष्ट्र में वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन होना भी आवश्यक है।

वेद मनुष्य की आधारभूत असमानता को मानते हैं। वे ममत्व के सिद्धान्त को भी पूरा महत्त्व देते हैं परन्तु धन को जीवन का एकमात्र देवता बनने नहीं देते। उनके बताये हुए तरीके में त्याग और भोग का एक ऐसा सन्तुलित समन्वय है जिसकी मिसाल अन्यत्र मिलनी दुष्कर है।
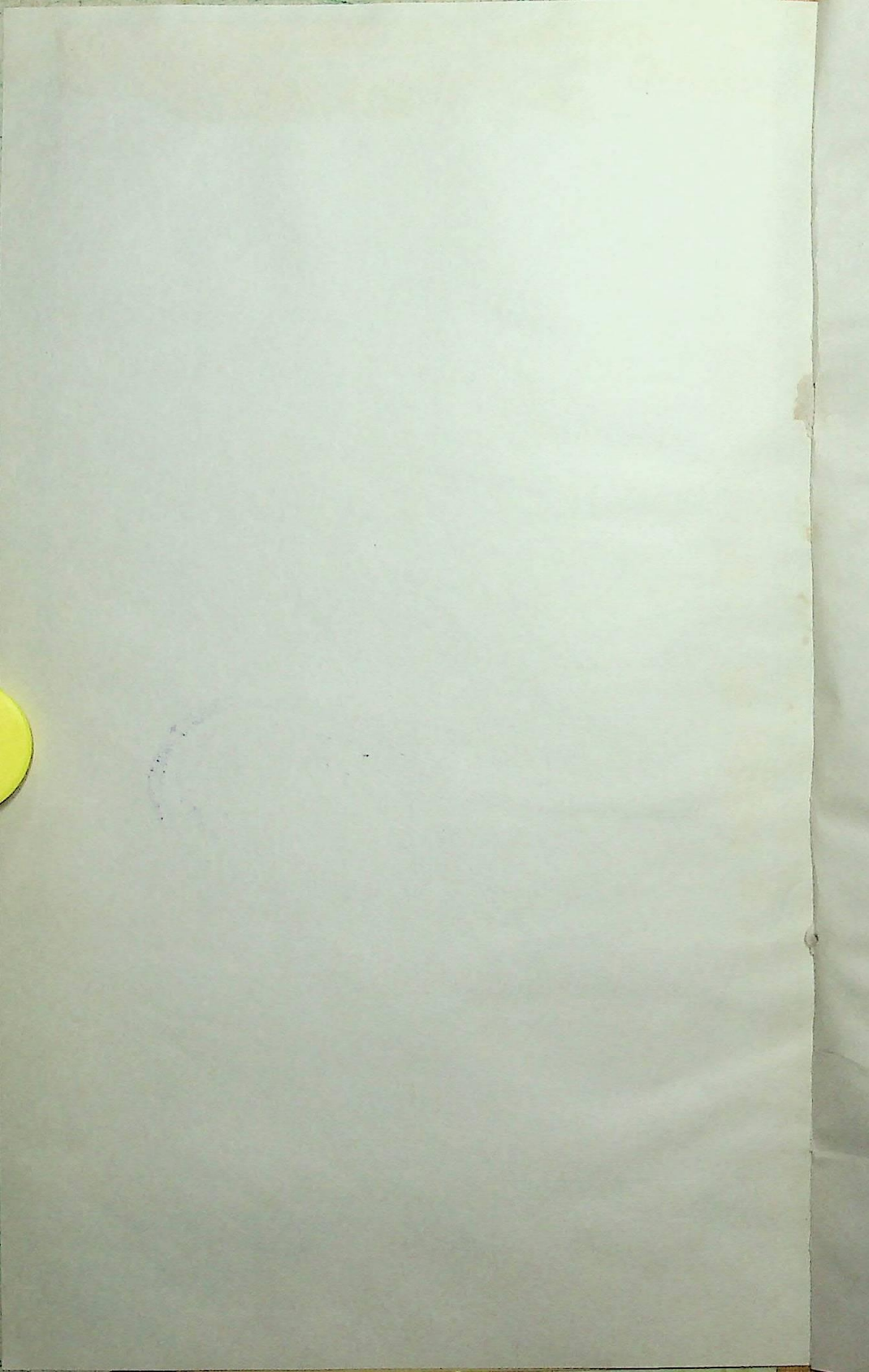
# वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था
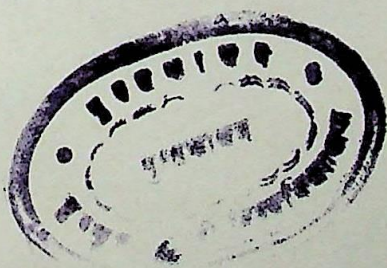
वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति की
वैदिक राजनीति सम्बन्धी अन्य पुस्तकें

**वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त**

(तीन भाग)

# वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
भूतपूर्व कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

मीनाक्षी प्रकाशन
मेरठ नयी दिल्ली

# भूमिका

प्रत्येक जीवन-दर्शन एक विशेष प्रकार के सामाजिक और आर्थिक संघटन की रचना का स्रोत होता है। प्राचीन काल में वेद में भी राष्ट्रवासियों के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अभ्युदय के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की नींव डाली गई जिसमें न कोई किसी का शोषण कर सके और न कोई किसी के साथ अन्याय, साथ ही योग्यता और क्षमता के अनुकूल काम मिलने की व्यवस्था रहे।

प्रत्येक प्रजाजन की प्रधान और मूलभूत पांच आवश्यकतायें होती हैं। वे हैं—भोजन, वस्त्र, घर, चिकित्सा और शिक्षा। इन पाँचों को 'आलम्बन' पदार्थ कहा जा सकता है। व्यक्ति का जीवन और उसका सुख मुख्य रूप से इन्हीं पाँचों पर अवलम्बित या आश्रित रहता है। वेद का आदेश है कि धरती के किसी भी कोने में रहने वाले किसी भी व्यक्ति को पाँचों आलम्बन पदार्थ आवश्यक रूप से मिलने चाहिए। राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति इनसे वंचित नहीं रहना चाहिए। जिस राष्ट्र के लोगों को ये सभी पदार्थ यथोचित मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगे, वही राष्ट्र वास्तव में आर्थिक दृष्टि से समुन्नत और समृद्ध कहा जा सकेगा।

वेद ने राष्ट्रों में ऐसी आदर्श स्थिति उत्पन्न करने के लिए एक विशिष्ट समाज-संघटन या समाज-व्यवस्था का आदर्श उपस्थित किया है। इस विशिष्ट समाज-संघटन का नाम है—वर्णाश्रम-व्यवस्था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रवासियों को उनकी योग्यता और क्षमता के अनुकूल चार भिन्न वर्णों में रखा गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण लोग राष्ट्र में सब प्रकार के अज्ञान के निराकरण और ज्ञान के संवर्द्धन के कार्य में अपना जीवन समर्पित कर देंगे। क्षत्रिय लोग राष्ट्र में से अन्याय और अत्याचार मिटाने के कार्य में अपना जीवन अर्पण कर देंगे। वैश्य लोग जनता के उपयोग की विविध प्रकार की सामग्री को उत्पन्न करने और उसे लोगों तक पहुँचाने के काम में अपने जीवन को समर्पित कर देंगे। शूद्र लोग कोई और बुद्धि सापेक्ष काम कर सकने की क्षमता न होने के कारण अन्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करके उन्हें अपने-अपने काम भली-भाँति करने में सहायता देंगे और इस प्रकार राष्ट्र की सेवा करेंगे।

आश्रम-मर्यादा लोगों में सेवा, समर्पण और त्याग की भावना उत्पन्न करने में सहायक होगी। ब्रह्मचर्याश्रम में बालक-बालिकाओं को निःशुल्क और बाधित शिक्षा दी जायेगी।

इस शिक्षा काल में बालकों को अपने लिए कोई वर्ण चुन लेना होगा और उसके लिए अपने आपको योग्य बनाना होगा। फिर गृहस्थाश्रम में अपने निर्धारित

वर्ण के कार्यों द्वारा राष्ट्र की सेवा करनी होगी और उसके द्वारा अपनी जीविका अर्जित करनी होगी। वानप्रस्थाश्रम में अपना समय केवल अध्ययन-अध्यापन, योगाभ्यास और आत्मचिन्तन में लगाना होता है। संन्यासाश्रम में पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा त्यागकर सर्वथा निष्काम और निःस्पृह होकर मानव मात्र के कल्याण के लिए सद्धर्म और सन्मार्ग का उपदेश देते हुए विचरण करना होगा। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म में त्याग पर अत्यधिक बल दिया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि राज्य लोगों से वर्णाश्रम धर्म का पालन करायेगा। जो अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन नहीं करेगा उसे दण्डित किया जायेगा। वर्णाश्रम-मर्यादा की पद्धति में यह व्यवस्था भी रखी गई है कि राष्ट्र या समाज में किसी एक ही वर्ण या वर्ग का सर्वोपरि प्रभुत्व न हो सके। जहाँ एक ओर समाज में सबसे अधिक सम्मान ब्राह्मण का होगा वहाँ प्रशासन के अधिकार क्षत्रियों को प्राप्त होंगे। परन्तु सम्मान के मामले में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्राह्मण की बराबरी न कर सकेंगे। आधुनिक भाषा में कहा जाये तो वर्णों के मध्य शक्ति-संतुलन की पूरी व्यवस्था की गई है।

वैदिक व्यवस्था में वर्णाश्रम धर्म को निभाने के लिए आवश्यक धनोपार्जन की व्यवस्था भी की गयी है। वेद मनुष्यों की आधारभूत असमानता को मानते हैं। वे ममत्व के सिद्धान्त को भी पूरा महत्त्व देते हैं। जहाँ राष्ट्र में कोई भूखा न रहे वहाँ सभी प्रजाजन श्रम भी करें। अर्जित सम्पत्ति के सदुपयोग की प्रेरणा के साथ-साथ धन के उचित संविभाजन के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। कृषि और गो-पालन के विषय में राजा और प्रजा के दायित्वों का वर्णन है। वाणिज्य के विषय में राजा की नीति और कराधात के सिद्धान्तों को भी वेद में स्पष्ट रूप से बताया गया है। देखने की विशेष बात यह है कि धन को जीवन का एकमात्र देवता बनने नहीं दिया गया है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीनों आश्रमों में धनोपार्जन वर्जित है, केवल गृहस्थाश्रम में ही धन अर्जित किया जा सकता है। गृहस्थियों के लिए त्याग और दान आवश्यक कर्तव्य के रूप में संस्तुत किये गये हैं। जाहिर है कि इससे अनुचित तरीकों से धन कमाने और उसके संग्रह करने की प्रवृत्ति पर रोक लगेगी। जो व्यक्ति या संस्थान अपने कर्तव्यों के पालन या राज्यो को देय करों में गड़बड़ करेगा उसे राज्य दण्डित करेगा, यहाँ तक कि उसकी सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है। त्याग और भोग का ऐसा संतुलित समन्वय शायद ही कहीं मिले।

—प्रियव्रत

# विषय-सूची


प्रस्तावना v

## सामाजिक व्यवस्था

1. वेद और वर्ण व्यवस्था 1
2. ब्राह्मण वर्ण 19
3. क्षत्रिय वर्ण 85
4. वैश्य वर्ण 94
5. शूद्र वर्ण 101
6. आश्रम-व्यवस्था 104
7. वर्णाश्रम मर्यादा और राज्य का कर्त्तव्य 108

## आर्थिक व्यवस्था

8. वर्णाश्रम मर्यादा और राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था 116
9. असमानता और सम्पत्ति का विभाजन 136
10. राज्य और गो-पालन 158
11. राज्य और कृषि 172
12. राज्य और वाणिज्य 177
13. कराधान के सिद्धान्त 184

# वेद और वर्णव्यवस्था

राष्ट्र को अभ्युदयशाली बनाने के लिए उसमें भाँति-भाँति के क्रियाकलापों का आयोजन करना होगा। राष्ट्रवासियों की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अनेक प्रकार की आवश्यकतायें होंगी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राष्ट्र में भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों के आविष्कार और प्रचार की व्यवस्था करनी होगी और इन ज्ञान-विज्ञानों की सहायता से विविध प्रकार की भौतिक सम्पदा, उपभोग सामग्री और उपकरणों को उत्पन्न करके उन्हें राष्ट्रवासियों तक पहुँचाने की व्यवस्था भी करनी होगी। इन सब कार्यों को करने के लिए अलग-अलग प्रकार की क्षमता रखने वाले लोगों की आवश्यकता पड़ेगी। ज्ञान-विज्ञानों के आविष्कार और प्रचार के लिए भिन्न प्रकार के लोगों की आवश्यकता होगी और भाँति-भाँति की भौतिक सम्पदा उत्पन्न करने और उसे राष्ट्रवासियों तक पहुँचाने के लिए भिन्न प्रकार के लोगों की आवश्यकता होगी। सब लोग अपना-अपना काम भली-भाँति करते रहें, कोई किसी के काम में बाधा न डाले, कोई किसी की सम्पत्ति का अपहरण न करे, कोई किसी के अधिकारों को हड़प न सके, कोई किसी का शोषण न कर सके, कोई किसी के साथ किसी प्रकार का अन्याय न कर सके, इस सबको देखने के लिए तथा यह देखने के लिए कि समाज की सारी व्यवस्था ठीक प्रकार से चलती रहे जिससे प्रत्येक राष्ट्रवासी सुख का जीवन व्यतीत कर सके, एक भिन्न प्रकार के लोगों की आवश्यकता होगी। राष्ट्रवासियों में से इन तीनों प्रकार की योग्यता और क्षमता रखने वाले लोगों का पता लगाना होगा, उन्हें संगठित करना होगा, और उस प्रकार के लोग राष्ट्र में सदा उत्पन्न होते रहें इसकी व्यवस्था करनी होगी तथा इन लोगों को अपनी-अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम करने को मिलते रहें इसकी व्यवस्था करनी होगी। यह सब लक्ष्य प्राप्त करने के लिए समाज की एक विशेष प्रकार की रचना करनी होगी, उसका एक विशेष प्रकार का संघटन करना होगा।

वेद में मनुष्यों की सहज, स्वाभाविक रुचियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए समाज की रचना का, उसके संघटन का, अपना एक विशेष प्रकार का

चित्रण करके मानव-मात्र को उसके अनुसार चलने का उपदेश किया गया है। वेद में वर्णित समाज के इस संघटन को वर्णाश्रम धर्म या वर्णाश्रम-व्यवस्था कहा जाता है। यदि वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में किसी राष्ट्र के निवासियों का समाज-संघटन बन जाये और राष्ट्र में उसके अनुसार सब काम होने लगें तो राष्ट्रवासी अभ्युदय और सुख-समृद्धि की जिस ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेंगे वह किसी अन्य पद्धति का आश्रय लेकर प्राप्त नहीं की जा सकती। राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह जागरूक होकर देखता रहे कि राष्ट्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति का पूर्णरूप से पालन हो रहा है। हम अगले पृष्ठों में यह देखेंगे कि वेद वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति के सम्बन्ध में क्या कुछ कहता है।

## 1. वेद और वर्णव्यवस्था

वेद के पुरुष सूक्त में, जहाँ पुरुष नामक भगवान् से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, पुरुष-समाज अर्थात् मनुष्य-समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उसे चार विभागों में बाँटा गया है। इन विभागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुष्य समाज के इन चार विभागों का वर्णन करने वाला पुरुष सूक्त का निम्न मन्त्र है—

**वर्णव्यवस्था का आधारभूत वेद-मन्त्र**

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

**ऋग्० 10.90.12; यजु० 31.11.**

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

**अथ० 19.6.6.**

अर्थात्—'(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इस मनुष्य समाज का (मुखं) मुख है (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू) भुजायें (कृतः) बनाया गया है (यद्) जो (वैश्यः) वैश्य है (तत्) वह (ऊरू) जंघाएँ हैं, और (पद्भ्यां) पैरों के लिए (शूद्रः) शूद्र (अजायत) बना है।'

अथर्ववेद का मन्त्र थोड़े से पाठ भेद के साथ वही है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद का है। अथर्ववेद में ऋग्० और यजु० के 'बाहू राजन्यः कृतः' के स्थान में 'बाहू राजन्यः अभवत्' और 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' के स्थान में 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' ऐसा पाठ है। अथर्ववेद के 'बाहू राजन्यः अभवत्' का तो वही अर्थ है जो 'बाहू राजन्यः कृतः' का है। 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' में ऋग्० और यजु० के 'ऊरू' के स्थान में अथर्व० में 'मध्यं'

पद प्रयुक्त हुआ है। 'ऊरू' का अर्थ जंघायें होता है और 'मध्य' का अर्थ बीच का हिस्सा होता है। अथर्ववेद में प्रयुक्त हुए 'मध्यं' शब्द ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के 'ऊरू' शब्द की व्याख्या कर दी है। अथर्ववेद के 'मध्यं' शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि शेष दोनों वेदों में प्रयुक्त 'ऊरू' शब्द को शरीर के मध्य हिस्से का उपलक्षण समझना चाहिए। अर्थात् 'ऊरू' का अर्थ जंघायें और जंघाओं से उपलक्षित पेट करना चाहिए। पेट और जंघायें ही शरीर के मध्य भाग का निर्माण करते हैं। फलतः मनुष्य समाज के शरीर का मध्य भाग वैश्य को समझना चाहिए।

## इस वेद मन्त्र से निकलने वाले निष्कर्ष

यह मन्त्र वैदिक धर्म के समाज-संघटन सम्बन्धी वर्णव्यवस्था सिद्धान्त का प्रधान और आधारभूत मन्त्र है। वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में अन्यत्र वेद में तथा वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में जो कुछ लिखा गया है वह इसी मन्त्र की विस्तृत व्याख्या और भाष्यमात्र है। इस मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हीं को प्रकारान्तर से वेद में अन्यत्र तथा वैदिक साहित्य के ऋषिकृत दूसरे ग्रन्थ में विस्तार के साथ कहा गया है। इसलिए समाज-संघटन के सम्बन्ध में इस महत्त्वपूर्ण मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हें जरा ध्यान से देख लेने की आवश्यकता है—

(1) पहली बात तो जो मन्त्र को पढ़ते ही सबसे प्रथम ध्यान में आती है वह यह है कि मनुष्य-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिए। किसी भी राष्ट्र में रहने वाले लोगों को अपने जन-समाज को इन चार विभागों में विभक्त करके रहना चाहिए।

(2) दूसरी बात जो मन्त्र को गम्भीरता से पढ़ने पर स्पष्ट ध्यान में आती है वह यह है कि मन्त्र में मनुष्य-समाज की मनुष्य शरीर से उपमा दी गई है। जैसे मनुष्य शरीर में मुख, हाथ, पेट, और पैर होते हैं वैसे ही मनुष्य-समाज में भी मुख, हाथ, पेट और पैर होते हैं। जैसे शरीर के मुख, हाथ आदि अंग मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं वैसे ही समाज के मुख, हाथ आदि अंग मिलकर समाज-शरीर का निर्माण करते हैं। मनुष्य-शरीर की भाँति समाज भी एक प्रकार का शरीर (organism) है। जैसे शरीर की पुष्टि और उन्नति के लिए उसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है वैसे ही किसी जन-समाज की पुष्टि और उन्नति के लिए भी उसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है। जैसे शरीर के किसी अंग की अपुष्टि और उसके किसी अंग का रोग समग्र शरीर के लिए घातक हो जाते हैं उसी प्रकार जन-समाज के किसी अंग की अपुष्टि, उसके किसी अंग की अवनति, समग्र समाज की अवनति और हीनता का कारण बन जाती है। इसलिए

समाज की उन्नति के लिए उसके सब अंगों का उन्नत होना आवश्यक है ।

(3) तीसरी बात जो मन्त्र के शब्दों से निकलती है वह यह है कि मन्त्र में ब्राह्मण आदि को मुख आदि कहा गया है । ब्राह्मण आदि का यह मुखादि के साथ रूपक ब्राह्मण आदि के गुणों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है । ब्राह्मणादि के मुखादि के साथ इस रूपक से ब्राह्मणादि के गुणों पर किस प्रकार प्रकाश पड़ता है यह शरीर में मुखादि के कार्यों को देखने से स्पष्ट हो जाता है :

(क) ब्राह्मण समाज का मुख[1] है । अब जरा मुख के कार्य और गुणों पर दृष्टि डालिये । मुख में आँख, नाक, कान, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एकत्र हैं। शेष शरीर में केवल त्वचा ही एक ज्ञानेन्द्रिय है । इस प्रकार मुख में शरीर के और अंगों की अपेक्षा, पाँच गुणा ज्ञान रहता है । ब्राह्मण जन-समाज का मुख है । उसमें समाज के अन्य क्षत्रियादि अंगों की अपेक्षा पाँच गुणा अर्थात् बहुत अधिक ज्ञान रहना चाहिए । मुख बोलकर अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाता है। ब्राह्मण समाज का मुख है । उसे अपना ज्ञान उपदेश द्वारा दूसरे लोगों तक पहुँचाना चाहिए । इस प्रकार जो लोग ज्ञान के अर्जन और अर्जित ज्ञान के प्रचार में लगे रहते हैं वे ब्राह्मण हैं । मुख तपस्वी है । कठोर से कठोर शीत के दिनों में भी जबकि हम सारे शरीर को वस्त्रों से ढक लेते हैं, हमारा मुख नग्न रहता है । ब्राह्मण समाज का मुख है । उसे मुख की भाँति तपस्वी होना चाहिए, उसे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहने का अभ्यास होना चाहिए । इसी के उपलक्षण से उसे मानसिक क्षेत्र में मान-अपमान आदि के द्वन्द्वों को सहने का भी अभ्यास होना चाहिए । मुख स्वार्थ रहित और परोपकारी है। संचित ज्ञान को मुख अपने पास नहीं रखता । उसे औरों को सुना देता है । मुख में प्राप्त हुए भोजन को वह अपने पास नहीं रखता वह उसे पचने योग्य बनाकर पेट के अर्पण कर देता है । जहाँ से वह सब अंगों को पहुँचता है । ब्राह्मण समाज का मुख है । उसे मुख की तरह स्वार्थहीन और परोपकारी होना चाहिए। उसे अपना सब ज्ञान और अपनी सब शक्तियाँ समाज के उपकार में लगा देनी चाहिए । यदि मुख स्वार्थी हो जाये, अपने में प्राप्त हुए भोजन को अपने में ही रखे और कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दे, तो सड़ांद होकर मुख स्वयं भी नष्ट हो जायेगा और सारे शरीर को भी नष्ट करेगा । इसी प्रकार स्वार्थी ब्राह्मण स्वयं भी नष्ट हो जायेगा और समाज को भी नष्ट करेगा । जो मुख की भाँति ज्ञानवान्, ज्ञान का उपदेष्टा, तपस्वी, सहनशील, स्वार्थहीन और परोपकारी है वह ब्राह्मण है ।

[1] यहाँ मुख से तात्पर्य सारे सिर से है । संस्कृत साहित्य में मुख शब्द सारे सिर या चेहरे के लिए बहुधा प्रयुक्त होता है । 'चन्द्र इव मुखम्'—यह मुख चन्द्रमा जैसा मनोहर है—इत्यादि वाक्यों में मुख से तात्पर्य मुख-छिद्र से नहीं होता । प्रत्युत सारे सिर या चेहरे से होता है ।

(ख) क्षत्रिय समाज की भुजाएँ है। भुजाओं में बल है। जब शरीर पर कहीं से भी किसी प्रकार का प्रहार होता है तो भुजाएँ आगे बढ़कर उस प्रहार को अपने ऊपर ओटती हैं और शत्रु पर प्रहार करती हैं। प्रहार से स्वयं घायल होना स्वीकार करती हैं। परन्तु शरीर के अन्य अंगों को घायल नहीं होने देतीं। शरीर के शत्रुओं पर प्रहार करके उनके नाश का प्रयत्न करती हैं। इसी प्रकार जो लोग अपने भीतर बल की विशेष वृद्धि करते हैं और उस बल से समाज की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय समाज के किसी भी अंग पर कहीं से कोई प्रहार, कोई अत्याचार, नहीं होने देगा। वह आगे बढ़कर प्रहार को, अत्याचार को, रोकेगा। स्वयं कष्ट में पड़ना स्वीकार करेगा। यहाँ तक कि मृत्यु तक का आलिंगन करने को भी उद्यत रहेगा, पर समाज के किसी अंग को अन्याय-अत्याचार से पीड़ित नहीं होने देगा। वह समाज की रक्षा और उसके शत्रुओं के विनाश के लिए सदा अपना रुधिर बहाने के लिए उद्यत रहेगा। जो शरीर में भुजाओं की भाँति समाज की अन्याय और अत्याचार से रक्षा करने के लिए सदा तत्पर रहता है और इस कार्य के लिए सदा अपनी जान हथेली पर लिए फिरता है वह क्षत्रिय है। वह समाज की भुजा है।

(ग) वैश्य समाज का मध्य भाग है। शरीर के मध्य भाग में पेट का प्रधान स्थान है। पेट के कार्य से वैश्य के कार्य पर प्रकाश पड़ता है। खाया हुआ अन्न पेट में जाकर एकत्र होता है। पेट उस अन्न को पचाकर रस बना देता है और फिर उस रस को रुधिर में मिला देता है। रुधिर में मिला हुआ यह रस शरीर के प्रत्येक अंग में पहुँच कर उसे भोजन देता है, उसे पुष्टि और बल देता है। वैश्य समाज का मध्य है, पेट है। पेट जैसे शरीर के सब अंगों के लिए रस तैयार करके, भोजन तैयार करके, देता है वैसे ही वैश्य को समाज के ब्राह्मण आदि सब अंगों को भोजन तैयार करके देना होगा। समाज का जो अंग समाज-शरीर के सब अंगों के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेता है वह वैश्य कहा जायेगा। मध्य भाग में जंघाएँ भी सम्मिलित की गई हैं। जंघाओं का काम चलना-फिरना है। जो जंघाओं की तरह चले-फिरेगा—देश-देशान्तर में आ-जाकर व्यापार-व्यवसाय करेगा वह वैश्य कहलायेगा। देश-देशान्तर में आ-जाकर व्यापार-व्यवसाय करना और उसके द्वारा अपने राष्ट्र के जन-समाज के भरण-पोषण का उपाय करना वैश्य का कर्तव्य है। ये वैश्य राष्ट्र-शरीर के मध्य भाग होते हैं जिसके ऊपर उसके सब अंगों का जीवन निर्भर होता है।

(घ) पैरों के काम के लिए शूद्र हैं। शूद्र समाज शरीर का पैर है। पैरों का शरीर में क्या काम है ? पैर सारे शरीर को अपने ऊपर उठाये रहते हैं। सारे शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं। स्वयं धूल, मिट्टी, कीचड़ आदि में रहते हैं परन्तु बाकी शरीर को साफ बचाये रखते हैं। पैरों में शेष शरीर की सेवा का ही

यह एक विशेष गुण है। और कोई विशेष गुण पैरों में नहीं होता। जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने अन्दर नहीं रखते और इसीलिए वे समाज के ब्राह्मण आदि अन्य अंगों की सेवा का ही कार्य कर सकते हैं, उन्हें शूद्र कहते हैं। ये शूद्र लोग ब्राह्मणादि की सेवा करके उन्हें उनके ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कामों के लिए अधिक समय प्राप्त कर सकने में सहायता देकर राष्ट्र-शरीर की सेवा करते हैं। यदि ब्राह्मणादि को अपनी सेवा के वस्त्र धोना, भोजन बनाना आदि सारे काम स्वयं ही करने पड़ें तो उन्हें उनके ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कार्यों के लिए समय कम मिलेगा और फलतः वे राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी कार्य कम कर सकेंगे। शूद्र लोग उनकी इस प्रकार की सेवाएँ करके उन्हें राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी काम करने का अधिक अवसर प्रदान करते हैं। और इस भाँति वे भी एक प्रकार से राष्ट्र के हित-साधन का काम करते हैं। ज्ञान आदि विशेष गुण न होने के कारण जो लोग केवल समाज शरीर की सेवा का ही कार्य कर सकते हैं उन्हें शूद्र कहा जाता है।

(4) चौथी बात जो मन्त्र को ध्यान से देखने से प्रकट होती है वह यह है कि ब्राह्मण आदि का विभाग घृणा पर आश्रित ऊँच-नीच के भेद पर अवस्थित नहीं है। यह विभाग अपनी शक्तियों द्वारा समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित है। शरीर के मुख, भुजा आदि अंग एक दूसरे से घृणा नहीं करते। वे एक दूसरे के साथ मिलकर रहते हैं। वे एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते हैं। मुख का दुःख जिस प्रकार सारे शरीर का दुःख होता है उसी प्रकार पैर का दुःख भी सारे शरीर का दुःख होता है। एक की पीड़ा सबकी पीड़ा होती है और एक का सुख सबका सुख होता है। जब पैर में काँटा चुभ जाता है तो पैर के उस दुःख को अपना दुःख समझकर क्षत्रिय भुजा उसे निकालने के लिए अपनी अंगुलियाँ और नाखून वहाँ भेजती है और ब्राह्मण मुख अपने दाँत वहाँ भेजता है। शूद्र पैर का वह दुःख दूर हो जाने पर ही इनको चैन पड़ती है। यही अवस्था समाज-शरीर में उसे मुख, भुजा, पेट और पैर—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—की होनी चाहिए। उनमें परस्पर के लिए किसी प्रकार की घृणा नहीं होनी चाहिए। उन्हें परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिए। एक-दूसरे का सुख-दुःख उन्हें अपना सुख-दुःख समझना चाहिए। एक दूसरे की उन्नति-अवनति उन्हें अपनी उन्नति-अवनति समझनी चाहिए। शूद्र का कष्ट और विपत्ति ब्राह्मण को अपना कष्ट और विपत्ति समझना चाहिए और ब्राह्मण का कष्ट और विपत्ति शूद्र को अपना कष्ट और विपत्ति समझना चाहिए। और ऐसा समझकर सबको सबके कष्ट और विपत्ति दूर करने में तथा सुख और सम्पत्ति बढ़ाने में निरन्तर भरपूर प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि सबका जीवन सबके सहयोग पर अवलम्बित है। इसलिए कोई किसी से ऐसा ऊँचा

नहीं है कि वह घमण्ड में चूर होकर दूसरे से घृणा करने लगे। यदि कुछ ऊँच-नीच है तो वह योग्यता और सेवा पर अवलम्बित है। जो जितना अधिक गुणवान् है और जितना अधिक दूसरों की सेवा करता है वह उतना ही अधिक ऊँचा है। योग्यता और तज्जन्य सेवा के कारण ही उसे ऊँचा समझकर दूसरों को उसका मान और सत्कार करना चाहिए। अपने से अधिक योग्य और राष्ट्र की अपने से अधिक सेवा करने वाले व्यक्ति को अपने से ऊँचा मानना और ऊँचा मानकर उसका मान और सत्कार करना सत्कार करने वाले व्यक्ति की आत्मा को उन्नत करता है और सत्कृत व्यक्ति को राष्ट्र-सेवा के लिए और अधिक उत्साहित करता है। इस प्रकार की सात्त्विक ऊँच-नीच के अतिरिक्त और किसी प्रकार की ऊँच-नीच वेद के ब्राह्मणादि विभाग में नहीं है। वैदिक उपदेश के वास्तविक रहस्य को न समझने के कारण आधुनिक हिन्दू समाज में प्रचलित जन्म पर आश्रित वर्णव्यवस्था में जो ऊँच-नीच के भाव पाये जाते हैं वे घृणा पर अवलम्बित भाव वेद के अभीष्ट ब्राह्मणादि विभाग में नहीं हैं। ब्राह्मण सबसे ऊँचा इसलिए है क्योंकि वह सबसे योग्य और राष्ट्र का सबसे अधिक सेवक है। शरीर में सिर का सब अंगों से अधिक महत्त्व है। क्योंकि सिर पर शरीर का जीवन सबसे अधिक अवलम्बित है। इसी प्रकार राष्ट्र में ब्राह्मण का महत्त्व सबसे अधिक इसलिए है कि उस पर राष्ट्र के जीवन की उन्नति सबसे अधिक अवलम्बित है।

वेद का यह ब्राह्मणादि का विभाग योग्यता, सेवा, सहयोग और प्रेम पर आश्रित है। इसमें घृणा और मानसिक तुच्छता का स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मन्त्र में जो उपदेश दिया गया है उसका निष्सृष्टार्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्र का जन-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिए। जो लोग भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों के क्षेत्र में जीवन लगाकर ज्ञान के संग्रह और संगृहीत ज्ञान के प्रचार में लगे रहेंगे, तपस्या का जीवन व्यतीत करेंगे, सहनशील, स्वार्थहीन और परोपकारी होंगे वे ब्राह्मण कहलायेंगे। जो लोग अपने अन्दर बल-वीर्य का विशेष सम्पादन करेंगे और इस संचित शक्ति को राष्ट्र के लोगों की अन्याय-अत्याचार से रक्षा करने में खर्च करेंगे उन्हें क्षत्रिय कहा जायेगा। जो लोग अपना जीवन भाँति-भाँति के व्यापार-व्यवसाय करके भोजन, वस्त्र आदि प्राकृतिक सम्पत्ति उत्पन्न करने और इस सम्पत्ति द्वारा राष्ट्र के लोगों का भरण-पोषण करने में लगायेंगे उन्हें वैश्य कहा जायेगा। जो लोग न तो ज्ञान संचय और ज्ञान-प्रचार का काम कर सकेंगे और न ही अन्याय-अत्याचार से राष्ट्र के लोगों की रक्षा तथा प्राकृतिक संपत्ति की उत्पत्ति करके उनके भरण-पोषण का काम कर सकेंगे, जो लोग केवल ब्राह्मणादि की सेवा का ही काम कर सकेंगे उन्हें शूद्र कहा जायेगा।

दूसरे शब्दों में जो लोग राष्ट्र के अज्ञान से पैदा होने वाले कष्टों को दूर

करने का व्रत लेंगे वे ब्राह्मण कहलाएँगे, जो लोग अन्याय से होने वाले राष्ट्र के कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे क्षत्रिय कहलाएँगे, जो लोग सम्पत्ति के अभाव से होने वाले राष्ट्र के कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे वैश्य कहलाएँगे। और जो लोग इन तीनों कामों में से कोई भी न कर सकेंगे, केवल इन कामों को करने वाले लोगों की सेवा भर ही कर सकेंगे उन्हें शूद्र कहा जायेगा।

इन चारों प्रकार के लोगों को परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिए और सबको अपने आपको राष्ट्र के समाज शरीर का अंग समझना चाहिए। ऐसा समझकर उन्हें सामूहिक जीवन की उन्नति के लिए निरन्तर उद्योगशील रहना चाहिए।

## वर्णव्यवस्था का प्रतिपादक एक और वेद मन्त्र

इस प्रसंग में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥

ऋग्० 1.113.6.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(त्वं) एक को (क्षत्राय)[1] बल और राष्ट्र सम्बन्धी (श्रवसे)[2] यश के लिए (त्वं) एक को (महीयै) बड़े-बड़े (इष्टये) यज्ञों के लिए (त्वं) एक को (अर्थम्) धन के (इव)[3] लिये (त्वं) एक को (इत्यै) चलने-फिरने के लिए—इस प्रकार (विसदृशा) असमान स्वभाव वाले (जीविता) प्राणियों को (अभिप्रचक्षे) अपने-अपने काम करने के लिए प्रकाशित करने के लिए (उषाः) उषा ने (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (अजीगः) उगल कर अन्धकार से बाहर कर दिया है।

सब जगत् अन्धकार से निगला हुआ पड़ा था। प्रातःकाल उषा आई और उसने जगत् को उगलकर अन्धकार से बाहर कर दिया। क्यों उषा ने जगत् को अन्धकार से बाहर कर दिया? इसलिए कि विभिन्न स्वभाव वाले लोगों को प्रकाश मिल सके जिससे वे अपने-अपने कामों को भली-भाँति कर सकें—कोई क्षत्र कर्म कर सके, कोई यज्ञ के कर्म कर सके, कोई धन-सम्पादन के कर्म कर सके और कोई चल-फिर कर साधारण सेवा आदि के कर्म कर सके।

[1] ओजः क्षत्रम्। ऐ० 8/2, 3, 4; क्षत्रं हि राष्ट्रम्। ऐ० 7/22.

[2] श्रवो यशः—श्रूयते इति श्रवः। ऋग्० 1.126.2। मन्त्रभाष्ये श्रवः कीर्तिमिति सायणः।

[3] अर्थमिव अर्थं प्रति इति सायणः।

## मनुष्यों की चार मुख्य प्रवृत्तियाँ

मन्त्र कहता है कि प्राणी विसदृश होते हैं। वे एक समान नहीं होते। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। और स्वभावों की भिन्नता के कारण वे कर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकार के करते हैं। मनुष्य स्वभाव की भिन्नता के कारण किस प्रकार के भिन्न-भिन्न काम किया करते हैं इसका एक सामान्य वर्गीकरण मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कर दिया गया है।

कुछ लोगों को क्षत्र सम्वन्धी यश से प्रेम होता है। क्षत्र शब्द वैदिक साहित्य में बल और राष्ट्र अर्थों में प्रयुक्त होता है। क्षत्रिय अर्थ में भी यह शब्द और दूसरे संस्कृत साहित्य में खूब प्रयुक्त होता है। यहाँ यह शब्द 'श्रवः' का विशेषण होकर आया है। श्रवः यश को कहते हैं। इसलिए 'क्षत्र श्रवः' का अर्थ होगा—बल सम्बन्धी, राष्ट्र सम्बन्धी और क्षत्रियों सम्बन्धी यश। कुछ लोगों के बल के राष्ट्ररक्षा के, क्षत्रियोचित कार्य करके यशस्वी बनने की इच्छा होती है। क्षत्रिय[1] का अर्थ ही होता है जो क्षत्र अर्थात् राष्ट्र रक्षा और बल-वीरता के कार्यों में निपुण हो।

कुछ लोगों का इष्टियों से प्रेम होता है, भाँति-भाँति के यज्ञ-यागादि कर्मों में अभिरुचि होती है। यज्ञ शब्द बहुत विस्तृत भाव को अपने भीतर लिए हुए है। एक तो यज्ञ शब्द धार्मिक क्रियाकलाप का सूचक है। दूसरे यह शब्द अपने धात्वर्थ के बल से जितने भी देवपूजा, संगतीकरण और दान के कार्य हैं उन सबका बोधक है। देवपूजा से परमातमा की आराधना और उपासना तथा अग्नि, जल, विद्युत् आदि देवों के गुणों का परिज्ञान और उनसे समुचित उपयोग लेना अभिप्रेत होता है। ज्ञानी विद्वान् पुरुषों की सेवा में उपस्थित होकर उनका मान-सत्कार करना तथा उनसे विविध विद्या-विज्ञानों को सीखना भी देवपूजा से अभिप्रेत होता है। संगतीकरण से, विद्युत् जल आदि पदार्थों के मेल से तरह-तरह के पदार्थों का निर्माण करने के लिए शिल्पशालाएँ स्थापित करना, राष्ट्र के लाभ के लिए मिलकर चलाये जाने वाले भाँति-भाँति के विद्यालय और दूसरे संघटनों की स्थापना करना, विविध बातों के विचार और प्रचार के लिए भाँति-भाँति की सभा-समितियों की रचना आदि लोकोपकारी कामों का ग्रहण होता है। दान से अपनी विद्या आदि शक्तियों को कल्याण भावना से अन्यों को अर्पण करना अभिप्रेत होता है। मन्त्र का इष्टि शब्द इन सब भावों का द्योतक है। कुछ लोगों की प्रवृत्ति स्वभाव से इष्टिमय, यज्ञमय होती है। उनकी प्रवृत्ति स्वभाव से धर्म-प्रवण होती है। उनका चित्त अग्निहोत्रादि यज्ञकर्मों में लगता है। परमातमा की आराधना और उपासना में उनकी अभिरुचि रहती है। वे

[1] क्षत्रे राष्ट्रे साधु, तस्यापत्यं जातो वा घः। वाचस्पत्यम्।

विद्वानों की संगति में जाकर भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों को सीखते हैं। अग्नि, वायु, जल, विद्युत् आदि जड़ देवों के गुणों का परिज्ञान करके उनसे अनेक प्रकार के उपयोग लेने के उपाय सोचने में उनका चित्त लगता है। लोगों के भले के लिए वे विविध विद्याओं और विचारों का प्रचार करने के लिए गुरुकुलों और दूसरी संस्थाओं का निर्माण करते हैं। जो कुछ भी धर्मभावना और विद्या आदि शक्तियाँ उनके पास हैं उनका वे दूसरों को दान करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

कुछ लोग इनसे भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के होते हैं। उनका चित्त अर्थ की ओर जाता है, वे भाँति-भाँति की धन-सम्पत्ति कमाना चाहते हैं। इसके लिए वे तरह-तरह के व्यापार-व्यवसायों का अवलम्बन करते हैं।

एक चौथे प्रकार के लोग होते हैं। उनमें ऊपर कही गई तीनों प्रवृत्तियों में से कोई भी नहीं होती। वे विशेष योग्यता से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी कार्य नहीं कर सकते। उनके जीवन में साधारण 'इति'—चलना-फिरना—होती है। विशेष कौशल उनमें किसी काम के लिए नहीं होता। सेवा आदि के साधारण काम ही, जिनमें सामान्य चलना-फिरना ही, शरीर और मन की सामान्य गति हो, अपेक्षित होते हैं—वे लोग कर सकते हैं। जिन कामों में शरीर और मन की विशेष कौशल-युक्त गति की आवश्यकता होती है उन कामों को वे नहीं कर सकते।

मनुष्यों की प्रवृत्तियों का सामान्य वर्गीकरण इन चार विभागों में ही हो सकता है। जो पहली प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है, जो दूसरी प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें ब्राह्मण कहा जाता है, जो तीसरी प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें वैश्य कहा जाता है और जो चौथी प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें शूद्र कहा जाता है।

पुरुष सूक्त के ऊपर उद्धृत मन्त्र में ब्राह्मणादि नामों और उनके मुखादि के साथ रूपक से पुरुष-समाज के जिस विभाग की ओर निर्देश किया गया था उसी को मनुष्यों की स्वाभाविक चार प्रवृत्तियों के वर्णन द्वारा प्रस्तुत मन्त्र में प्रकारान्तर से बताया गया है। इन दोनों मन्त्रों के समन्वयात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में समाज के जिस ब्राह्मणादि विभाग की कल्पना की गई है वह मनुष्यों की प्रवृत्तियों के स्वाभाविक भेद पर आश्रित है और इसीलिए वह पूर्ण वैज्ञानिक है। यदि मनुष्यों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जायेगी और उन्हें राष्ट्र की सेवा के लिए तैयार किया जायेगा तो राष्ट्र और व्यक्ति दोनों का ही बहुत अधिक कल्याण होगा।

## वर्ण जन्म पर आधारित नहीं है

वैदिक धर्म में, समाज की इस ब्राह्मणादि विभाग में की जाने वाली व्यवस्था

को वर्ण व्यवस्था कहते हैं। वर्ण[1] का अर्थ होता है जो चुने अथवा चुना जाये। ब्राह्मण ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार को अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुन लेता है इसलिए वह ब्राह्मण वर्ण कहलाता है। अथवा ब्राह्मण के ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार रूप ब्राह्मणत्व धर्म ब्राह्मण द्वारा अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुने जाते हैं इसलिए ब्राह्मण के धर्मों को वर्ण कहा जाता है और, इन चुने हुए धर्मों (वर्ण) वाला होने से ब्राह्मण को ब्राह्मण वर्ण कहा जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी वर्ण कहे जाते हैं। ब्राह्मणादि के साथ 'वर्ण' शब्द के प्रयोग का यह भाव होता है कि उन्हें सदा स्मरण रहे कि उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष लक्ष्य चुना है और इसलिए सदा उन्हें उस लक्ष्य की पूर्ति में यत्नशील रहना चाहिए। इस शब्द के प्रयोग से यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म पर नहीं प्रत्युत गुण-कर्म पर आश्रित है। जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण-कर्मों का चुनाव अपने जीवन में लक्ष्य के रूप में कर लेगा उसका वही वर्ण हो जायेगा। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का आधार समाज की सेवा की योग्यता है। किसी विशेष वंश में उत्पन्न होना नहीं।

## 2. क्या वेद में वर्णव्यवस्था नहीं है

कई लोग वर्णव्यवस्था पर यह आक्षेप करते हैं कि यह मनु आदि लोगों की अपनी कल्पित चीज है इसका वेद में विधान नहीं है। इन लोगों के अनुसार ब्राह्मणादि चार वर्णों का वेद में कहीं विधान नहीं है। वेद में ब्राह्मणादि के साथ कहीं भी 'वर्ण' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इन लोगों के अनुसार वेद में दो ही वर्ण हैं। एक आर्य वर्ण और दूसरा दस्यु वर्ण। क्योंकि वेद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग आर्य और दस्यु के साथ ही हुआ है। जितने अच्छे लोग हैं वे आर्य वर्ण हैं और जितने दुष्ट, अत्याचारी लोग हैं वे दस्यु वर्ण हैं। मनुष्य समाज के बस ये ही दो विभाग होने चाहिए। इससे अधिक विभागों में मनुष्य-समाज को बाँटना उसका अहित करना है। ऐसा इन लोगों का कहना है।

यह ठीक है कि वेद में कहीं भी ब्राह्मणादि के साथ 'वर्ण' शब्द का सीधा प्रयोग नहीं हुआ है। परन्तु इतने से वेद में वर्णव्यवस्था का विधान नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रकारान्तर से वेद में ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि हो जाती है।

[1] वर्णो वृणोतेः। निरु० 2.1.3, उणादि० 3.10.

## मनुष्य-समाज के दो विभाग : आर्य और दस्यु

वेद के निम्न मन्त्र—

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।
शार्की भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत् ता ते सधमादेषु चाकन ।।

ऋग्० 1.51.8.

में मनुष्य समाज के दो विभाग किये गये हैं—आर्य और दस्यु। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

'हे इन्द्र (सम्राट् और परमात्मन्) तुम आर्यों को और जो दस्यु हैं उनको जानो। नियमों का भंग करने वाले (अव्रतान्) दस्युओं का, उन पर शासन करता हुआ तू राष्ट्रयज्ञ में लगे हुए (बर्हिष्मते) मुझ प्रजाजन के लिए नाश कर दे। और इस प्रकार हे शक्तिशाली (शार्की) इन्द्र तू राष्ट्रयज्ञ में लगे हुए (यजमानस्य) मुझ प्रजाजन का उत्तम कर्मों में प्रेरणा करने वाला बन। तेरे समग्र रक्षा कर्मों को हे इन्द्र मैं मिलकर आनन्द देने वाले अपने व्यवहार यज्ञों में (सधमादेषु) प्राप्त करना चाहता हूँ (चाकन)।'

मन्त्र में प्रजाजन स्पष्ट रूप से इन्द्र से कहता है कि हे महाराज ! प्रजा में दो प्रकार के लोग हैं। एक आर्य और एक दस्यु। जो दस्यु हैं उन्हें आप दण्डित कीजिए और इस प्रकार आर्यों की रक्षा कीजिये। मैं आर्य हूँ इसलिए मेरी भी रक्षा कीजिये। दस्यु किस प्रकार के लोगों को कहते हैं यह भी मन्त्र में उन्हें 'अव्रत' कहकर स्पष्ट कर दिया गया है। जो समाज के व्रतों का, नियमों और कर्मों का, विघात करते हैं वे दस्यु हैं। इससे विपरीत जो लोग राष्ट्र के व्रतों का पालन करते हैं वे आर्य हैं। इस प्रकार इस मन्त्र से मनुष्य-समाज के दो भेद एक आर्य अर्थात् अच्छे लोग और दूसरे दस्यु अर्थात् बुरे लोग, स्पष्ट सिद्ध हो गये।

## आर्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग

अब इस प्रसंग में वेद का निम्न मन्त्र देखिए—

हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ।

ऋग्० 3.34.9; अथ० 20.11.9.

अर्थात्—'इन्द्र (सम्राट् और परमात्मा) दस्युओं को मार कर आर्य वर्ण की रक्षा कर लेता है।'

इस मन्त्र में भी दस्यु लोगों को दण्ड के योग्य बताया गया है और आर्य लोगों को रक्षा के योग्य कहा गया है। साथ ही इस मन्त्र में आर्य के साथ 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया गया है। समग्र वेद में यहीं आर्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है।

## ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि

इस मन्त्र को ध्यान में रखकर पुरुष सूक्त के ऊपर वर्णित 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' मन्त्र को पुनः ध्यान में लाइये। पाठक देख चुके हैं कि पुरुष सूक्त में पुरुष अर्थात् प्रभु द्वारा समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। इसी प्रसंग में मनुष्य-समाज की उत्पत्ति का भी वर्णन हुआ है। और 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' इस मन्त्र द्वारा वहाँ पर मनुष्य-समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार विभाग किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि वेद को मनुष्य-समाज के ये चार विभाग अभीष्ट हैं। उधर ऊपर के दोनों मन्त्रों में हमने अभी देखा है कि वेद की सम्मति में मनुष्यों में के दस्यु लोग मारने के योग्य हैं और आर्य लोग रक्षा करने के योग्य हैं। पुरुष सूक्त में कहा गया ब्राह्मणादि का विभाग वेद का अपना बताया हुआ विभाग है। इसलिए वेद के इन्द्र द्वारा ये ब्राह्मणादि लोग तो रक्षा करने के योग्य होंगे ही। इसलिए स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि लोग दस्यु से भिन्न हैं। क्योंकि दस्यु दण्डनीय हैं और ब्राह्मणादि रक्षणीय हैं। उद्धृत ऋग्० 3.34.9 में दस्यु के विपरीत आर्य लोगों को रक्षणीय बताया गया है। इसलिए रक्षणीय होने से आर्य लोग और ब्राह्मणादि लोग एक ही हो जाते हैं। अर्थात् ब्राह्मणादि लोग आर्य लोग हैं। अब इसी उद्धृत ऋग्० 3.34.9 मन्त्र में आर्य लोगों को वर्ण कहा गया है। परिणामतः ब्राह्मणादि लोग स्वयं ही वर्ण हो गये। सीधी स्थिति है। ब्राह्मणादि आर्य हैं, और, आर्य वर्ण है, इसलिए ब्राह्मणादि वर्ण हैं। इस प्रकार ब्राह्मणादि के साथ वेद में वर्ण शब्द का सीधा प्रयोग न होने पर भी उनके साथ वर्ण शब्द की सिद्धि अनायास हो जाती है।

## दस्यु वर्ण नहीं है

यह तो हुआ आर्य वर्ण के सम्बन्ध में। अब लीजिए दस्यु वर्ण को। जो लोग यह कहते हैं कि वेद में आर्य वर्ण के विपरीत दस्यु वर्ण का विधान है वे सर्वथा भ्रान्त कहते हैं। वेद में कहीं भी दस्यु शब्द के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

## दास और दस्यु एक नहीं

वेद में निम्न मन्त्र—

दासं वर्णमधरं गुहाकः।

ऋग्० 2.12.4; अथ० 20.34.4.

में दास के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। ये लोग दास और दस्यु को पर्यायवाची समझकर कह देते हैं कि वेद में दस्यु के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है और आर्य वर्ण के मुकाबले में दस्यु वर्ण की सत्ता वेद में मानी गई है। दस्यु और दास को

पर्यायवाची समझना भारी भूल है। इस भूल का आधार सायणाचार्य का भाष्य है। सायणाचार्य ने दो-एक स्थलों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र दास का अर्थ दस्यु किया है। परन्तु वेद में सर्वत्र दास का अर्थ दस्यु होता नहीं है। कितने ही स्थलों में वेद में दास का अर्थ सेवक या शूद्र होता है। वेद में दास के सेवक, शूद्र, अर्थ को देखकर ही मनु आदि ने शूद्रों के नामों के साथ दास शब्द जोड़ने का विधान किया प्रतीत होता है। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में अनेक स्थानों पर दास का अर्थ सेवक, शूद्र किया है। वेद में कई स्थल ऐसे आते हैं जहाँ दास का अर्थ सेवक ही करना पड़ेगा, दस्यु अर्थ नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

अरं दासो न मोळ्हुषे कराणि।

ऋग्० 7.86 7.

अर्थात्—'हे वरणीय भगवान् (वरुण) जैसे दास स्वामी की भक्ति करता है वैसे ही मैं भी आपकी खूब भक्ति करूँ।'

इस मन्त्र में स्पष्ट ही दास का अर्थ सेवक है। दस्यु अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकता। श्री सायण को भी यहाँ दास का अर्थ भृत्य अर्थात् सेवक ही करना पड़ा है। इसी प्रकार ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 16वें सूक्त से लेकर 21वें सूक्त तक के अन्तिम मन्त्र के अन्तिम चरण में—

स्याम रथ्यः सदासाः।

ये शब्द आते हैं। इन शब्दों से ऊपर के मन्त्र भाग में कहा गया है कि 'हे प्रभो (इन्द्र) हमने आपकी वेदोक्त स्तुति कर ली है।' इस वाक्य के पश्चात् ये उद्धृत शब्द प्रार्थना रूप में आते हैं। इनमें कहा गया है कि 'हे भगवन् आपकी स्तुति के कारण हम रथों वाले और सदास अर्थात् दासों से युक्त हो जायें।' यहाँ दास का अर्थ दस्यु नहीं सेवक ही करना होगा, कोई भी भगवान् से अपने घर में दस्यु भेजने की प्रार्थना नहीं कर सकता। इसी भाँति ऋग्० 8.51.9. में ये शब्द आते हैं—

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।

यह वाक्य इन्द्र का विशेषण है। इसका अर्थ है—'जिस इन्द्र का आर्य और दास सब जन समुदाय शेवधिपा अर्थात् खजाने की रक्षा करने वाला है।' आर्य और दास दोनों मिलकर इन्द्र के—परमेश्वर के—शेवधि की, खजाने की, रक्षा करते हैं। यहाँ भी दास का अर्थ दस्यु नहीं हो सकता। दस्यु रक्षा नहीं करता। वह विनाश करता है। दास का अर्थ यहाँ सेवक, शूद्र, ही करना होगा। आर्य का अर्थ यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग करना होगा। यों आर्य में ऊपर प्रदर्शित रीति से चारों वर्ण आ जाते हैं। परन्तु यहाँ शूद्र का वाचक दास शब्द अलग आ जाने से आर्य का अर्थ शेष तीन वर्णों के लोग ही करना होगा।

## दास के दो अर्थ

इन और इन जैसे कितने ही अन्य स्थलों से दास का अर्थ दस्यु किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इन स्थलों में यह शब्द सेवक का, शूद्र का, ही वाचक है। वस्तुतः वेद में दास शब्द का दो प्रकार का प्रयोग है। एक दास शब्द में कर्ता में प्रत्यय है। 'यः दस्यति स दासः'—जो दूसरों का क्षय करता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द दस्यु का वाचक होता है। और दूसरे दास शब्द में कर्म में प्रत्यय है। 'यः दस्यते स दासः'—जो क्षीण होता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द सेवक का, शूद्र का, वाचक होता है। वास्तव में दस्यु और शूद्र के वाचक दास शब्द दो सर्वथा भिन्न शब्द हैं। लिखने में इनकी आकृति और सुनने में इनकी ध्वनि एक जैसी है परन्तु प्रत्यय-भेद के कारण ये शब्द सर्वथा भिन्न दो शब्द हैं। कहाँ दास का अर्थ दस्यु करना है और कहाँ सेवक करना है इसका निर्णय प्रकरण को देखकर होगा। इस मर्म को न समझने के कारण कुछ लोग वेद के दास और दस्यु को एक ही समझने की भूल कर बैठे हैं।

## दास शब्द बुद्धि में हीन शूद्र व्यक्ति का वाचक

इसलिए 'यो दासं वर्णमधरं गुहाकः' इस मन्त्र खण्ड से वेद में दस्यु वर्ण की सिद्धि नहीं हो सकती। इस मन्त्र में प्रयुक्त दास शब्द दस्यु का वाचक नहीं है। यहाँ यह शब्द सेवक का, शूद्र का, वाचक है। इस मन्त्र खण्ड का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'(यः) जो इन्द्र (सम्राट् या परमेश्वर) (गुहा)[1] बुद्धि में (अधरं) नीचे पुरुष को (दासं वर्णं) दास वर्ण (कः) कर देता है।'

इस प्रकार इस मन्त्र में यह बताया गया है कि शूद्र किस प्रकार के व्यक्ति को कहते हैं। जो बुद्धि में नीचा है, जिसमें ज्ञान शक्ति कम है ऐसे पुरुष को दास या शूद्र वर्ण का व्यक्ति कहा जाता है। किसी विशेष वंश में उत्पन्न होने से कोई व्यक्ति शूद्र वर्ण का नहीं होता। शूद्रत्व का निश्चायक ज्ञान शक्ति की हीनता है। किसी भी वंश का व्यक्ति ज्ञानहीन होने की अवस्था में शूद्र कहलायेगा।

## दास वर्ण का अर्थ शूद्र वर्ण है

इस मन्त्र में दास का अर्थ दस्यु यों भी नहीं हो सकता कि यहाँ इसके साथ

[1] गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति। ऋग्० 1.164.45 ; त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य। यजु० 32.9 ; धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्। महाभारतम्। एवंविधेषु स्थलेषु सर्वत्र गुहा शब्दो बुद्धेर्हृदयस्य वा वाचको भवति। यजु० 8.9, 15–28 ; ऋग्० 1.67.4, 4.5.12 ; मंत्रेषु गुहेति पदमृषिर्दयानन्दो बुद्धिपर्यायं मन्यते। स्वकीये संस्कृत-इंग्लिश कोषे आप्टे महोदयो गुहाशब्दस्य (Intellect) इति बुद्धिवाचकमप्यर्थं कुरुते।

वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्ण शब्द में चुनने का भाव है यह हम अभी ऊपर देख चुके हैं। कोई समाज अपने में से किसी व्यक्ति की दस्युत्व के जीवन का चुनाव करने की स्वीकृति नहीं दे सकता और न ही दस्युत्व कोई चुनाव करने योग्य वस्तु ही है। इसलिए जीवन के समाजोपयोगी लक्ष्य के चुनाव का बोधक, आर्य लोगों के साथ प्रयुक्त होने वाला वर्ण शब्द वेद में दस्यु के लिए नहीं प्रयुक्त हो सकता था। इस प्रकार दास के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की ध्वनि भी यही है कि यहाँ दास शब्द दस्यु के लिए नहीं प्रत्युत शूद्र के लिए, जो कि आर्य लोगों का ही एक अंग है, आया है।

इस भाँति वेद का गहरा अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि वेद के अनुसार मनुष्य जाति के दो भेद हैं—आर्य और दस्यु। आर्यों के चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आर्य लोग वर्ण के लोग हैं। ये लोग स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार समाज की यथोचित सेवा करने की दृष्टि से ब्राह्मण आदि के जीवन का वरण (चुनाव) करके वर्ण-व्यवस्था की रीति से चार विभागों में बँट कर रहते हैं। फिर इन आर्यों में दो भेद हो जाते हैं—आर्य वर्ण और दास या शूद्र वर्ण। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन को आर्य वर्ण कहते हैं। और शूद्र को दास या शूद्र वर्ण कहते हैं।

## ब्राह्मणादि तीन वर्णों को विशेष रूप से आर्य क्यों कहा जाता है ?

शूद्र की तुलना में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को आर्य क्यों कहते हैं इसका समाधान वेद के निम्न मन्त्र में किया गया है—

तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।

ऋग्० 7.33.7.

अर्थात्—'तीन प्रकार की प्रजायें आर्य कहलाती हैं क्योंकि वे ज्योति में अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में अग्रगामी होती हैं।'

पुरुष सूक्त में, जैसा हम ऊपर देख आये हैं, अच्छे लोगों के ब्राह्मण आदि चार भेद किये गये हैं। उनमें से पहले तीन ज्ञान में अधिक होने के कारण आर्य कहलाते हैं। और शूद्र के सम्बन्ध में अभी ऊपर हम देख ही आये हैं कि 'यो दासं वर्णमधरं गुहा कः' (ऋग्० 2.12.4.)—जो बुद्धि में, ज्ञान शक्ति में, हीन है वह दास या शूद्र वर्ण है।

## ऋषि दयानन्द की आर्य, अनार्य और दस्यु की व्याख्या

वेद के इसी आशय को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है—

'श्रेष्ठों का नाम आर्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुए।....आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम आर्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।' एक दूसरे स्थल पर उसी ग्रन्थ में लिखा है— 'आर्य नाम धार्मिक, विद्वान् आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् का है। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात् अनाड़ी है।'

## शूद्र घृणा का नहीं प्रेम का पात्र है

वेद में, जैसा हम देख चुके हैं, किसी घृणित वंश विशेष में उत्पन्न होने के कारण किसी व्यक्ति को शूद्र नहीं कहा जाता। जिसमें ज्ञान शक्ति की कमी है वह शूद्र है चाहे वह किसी भी वंश में क्यों न उत्पन्न हुआ हो। शूद्र के साथ किसी प्रकार की घृणा का सम्बन्ध नहीं है। प्रत्युत वह तो अनुकम्पा, दया और प्रेम का पात्र है। दास और शूद्र नामों से ही यह बात प्रकट होती है। दास का शब्दार्थ हम अभी देखकर आ रहे हैं। जो उपदस्त है, क्षीण है, ज्ञानादि गुणों में हीन है वह दास है। दास होने के, क्षीण होने के, कारण ही वह शूद्र है। शूद्र का शब्दार्थ है—'शुचं द्रावयति'—जिसे देखकर दूसरों के मन में दया उत्पन्न हो कि देखो बेचारा कुछ भी ज्ञान की, योग्यता की, बात नहीं सीख सका। ज्ञान क्षीण होने के कारण शूद्र दया और प्रेम का पात्र है, घृणा का नहीं। इसलिए वेद में अन्यत्र कहा गया है—

> रुचं नो धेहि ब्राह्मणेष रुचं राजसु नस्कृधि।
> रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
>
> यजु० 18.48.

अर्थात्—'हे परमात्मन्! आप ब्राह्मणों में हमारा प्रेम कीजिये, क्षत्रियों में हमारा प्रेम कीजिये, वैश्यों में हमारा प्रेम कीजिये और शूद्रों में हमारा प्रेम कीजिये, आप प्रेम से मेरे अन्दर प्रेम उत्पन्न कीजिये।'

वर्तमान काल में जन्म पर आश्रित जो वर्णव्यवस्था भारतीय हिन्दू समाज में प्रचलित हो गई है, और उनमें जो शूद्र के साथ घृणा के भाव पाये जाते हैं वह सब वेद के रहस्य को भूल जाने के कारण हुआ है।

ऊपर के पृष्ठों में जो विवेचन हुआ है उससे पाठक स्पष्ट रूप से इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वेद में वर्णव्यवस्था का असंदिग्ध रूप से विधान है। जो लोग वर्तमान समय में यह कहने लग पड़े हैं कि वेद में वर्णव्यवस्था नहीं है वहाँ तो केवल आर्य

और दस्यु इन दो वर्णों का ही विधान है, वे वेद के मर्म को न समझने के कारण ऐसा कहते हैं।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए हम वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात और कह देना आवश्यक समझते हैं। यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि वेद से ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि नहीं होती तो भी इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि वेद में ब्राह्मणादि विभागों में समाज को विभक्त करने का विधान नहीं है। पुरुष सूक्त में और अन्यत्र ब्राह्मण आदि विभागों में समाज को विभक्त करने का वेद में स्पष्ट उल्लेख है। ब्राह्मण आदि के विभागों में समाज को विभक्त करके, व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से, समाज की व्यवस्था करना ही वर्णव्यवस्था का वास्तविक तत्त्व है। इस तत्त्व का उपदेश वेद में स्पष्ट दिया गया है। ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग वेद में न सही, ब्राह्मणादि का विभाग वेद में विद्यमान है। ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग पीछे से ऋषियों ने कर दिया और समाज की इस ब्राह्मणादि की व्यवस्था को वर्णव्यवस्था का नाम दे दिया ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी वर्णव्यवस्था के तत्त्व की कोई हानि नहीं होती है। वर्ण एक सुन्दर भाव का द्योतक शब्द है। यदि उसे पीछे से ऋषियों और आचार्यों ने प्रचलित किया हो तो भी हमें उसका ग्रहण कर लेना चाहिए, और ब्राह्मणादि की वेद-विहित व्यवस्था को वर्णव्यवस्था के नाम से स्वीकार कर लेना चाहिए। क्योंकि वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त तो वेद में विद्यमान है ही, भले ही उस सिद्धान्त का नाम वर्णव्यवस्था पीछे से आचार्यों ने रख दिया हो। यों जैसा हम ऊपर देख आये हैं। ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि वेद के द्वारा ही हो जाती है और वेद के आधार पर ही इस व्यवस्था को वर्णव्यवस्था कहा जा सकता है।

# ब्राह्मण वर्ण

पुरुष सूक्त के 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' मन्त्र में ब्राह्मणादि वर्णों को जो पुरुष-समाज के मुखादि कहा गया है उससे इन वर्णों के गुणों और कर्तव्यों पर जो प्रकाश पड़ता है उसे हम ऊपर देख चुके हैं। उस मन्त्र में के रूपक से ब्राह्मणादि चारों वर्णों के गुणों और कर्तव्यों का एक अति संक्षिप्त और सामान्य बोध होता है। वहाँ संक्षिप्त और सामान्य रूप में वर्णों के जो गुण और कर्तव्य निर्दिष्ट हुए हैं उनका वेद में और दूसरे आर्य साहित्य में बहुत विस्तृत और विशद रूप में वर्णन किया गया है। यहाँ हम वेद में इन वर्णों के गुणों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर जो कुछ कहा गया है उसे ही अति संक्षेप से देखेंगे। सबसे पहले ब्राह्मण वर्ण को लीजिये। ब्राह्मण के सम्बन्ध में हमें वेद में जगह-जगह पर बहुत कुछ कहा हुआ मिलता है। उसके गुणों और कर्तव्यों को बताने वाले नीचे लिखे गये कुछ मन्त्रों और मन्त्र-खण्डों पर विचार कीजिये।

## ब्राह्मणों को वेदज्ञ होना चाहिए

अनेक स्थलों पर वेद में ऐसे निर्देश मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों को वेदज्ञ होना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न कुछ मन्त्र देखिये—

1. ब्राह्मणासः····ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्। ऋग्० 7.103.8.
2. हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
   अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥
   ऋग्० 10.71.8.
3. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा। यजु० 22.22.
4. ब्रह्मणे ब्राह्मणम्। यजु० 30.5.
5. ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन्ब्राह्मणं जनाः। अथ० 5.19.2.
6. ब्रह्मणस्पते····त्वं यदीशानो ब्रह्मणा। ऋग्० 2.24.15.

7. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥
अथ० 20.88.4; ऋग्० 4.50.4.

8. अपः सिषासन् त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ।
ऋग्० 6.73.3; अथ० 20.90.3.

9. करद् ब्रह्मणे सुतरा सुगाधा । ऋग्० 7.97.8.

10. बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु । ऋग्० 10.36.5.

11. इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
अथ० 20.91.1. ऋग्० 10.67.1.

12. शुचिमर्कैर्बृहस्पतिम्....नमस्यत । ऋग्० 3.62.5.

13. प्र सप्तगुम्....बृहस्पतिम् । ऋग्० 10.47.6.

14. बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् । अथ० 5.26.12.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ब्राह्मण लोग वर्ष भर वेद का अध्ययन करते हैं । मन्त्र में वेद के लिए 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है । सारे वैदिक साहित्य में ब्रह्म शब्द का एक अति प्रसिद्ध अर्थ वेद होता है । यह उस साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी भली-भाँति जानता है । मन्त्र में ब्रह्म का विशेषण 'परिवत्सरीणम्' दिया गया है । परिवत्सरीणं[1] का अर्थ होता है जो साल भर का समय लगने से तैयार हो, अर्थात् जिसके सिद्ध होने में सारा साल लगता हो । अध्ययन करने के लिए मन्त्र में 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है । 'कृ' धातु का अर्थ वास्तव में 'करना' होता है । यह एक क्रिया-सामान्य को बताने वाली धातु है । वेद की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है यह वेद के पुरुष सूक्त और दूसरे स्थलों में स्पष्ट कह दिया गया है । इसलिए यहाँ ब्राह्मणों द्वारा वेद के करने का अर्थ उन द्वारा वेद की रचना नहीं हो सकता । इसका अर्थ ब्राह्मणों द्वारा वेद का अध्ययन ही हो सकता है । ब्राह्मण ऐसे वेद का अध्ययन करते हैं जो परिवत्सरीण है, जो साल भर का काल लगने से सिद्ध होता है । फलितार्थ यह है कि ब्राह्मण लोग साल भर अर्थात् सदा वेद का अध्ययन करते हैं ।

(2) (सखायः) समान ज्ञान वाले (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (हृदा) हृदय अर्थात् बुद्धि द्वारा (तष्टेषु)[2] निश्चय किए हुए (मनसः) मन के (जवेषु)[3] वेग के

[1] संपरिपूर्वात् ख च (अष्टा० 5.1.92) इतिं खः । परिवत्सेरेण निर्वृत्तं परिवत्सरोणम् ।

[2] निश्चितेषु इति सायणः ।

[3] गन्तव्येषु वेदार्थेषु गुणदोषनिरूपणायेति सायणः ।

विषयभूत ज्ञातव्य वेदार्थों के निरूपण के लिए (यद्) जब (संयजन्ते)[1] एकत्र होते हैं, तब (अत्र) इस ब्राह्मण संघ में (त्वं) किसी को (वेद्याभिः) विद्याओं के कारण (अह) निश्चय ही (विजहुः) पीछे छोड़ देते हैं (उ) और (त्वे) कोई (ओह ब्रह्माणः)[2] की है ब्रह्म अर्थात् वेद की ऊहापोह जिन्होंने ऐसे विद्यावान् ब्राह्मण (विचरन्ति) वेद ज्ञान में विचरण करते हैं।



जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें बृहस्पति परमात्मा की प्रेरणा से ऋषियों के अन्तःकरण में वेद के प्रकाशित होने का वर्णन है और साथ ही यह भी वर्णन है कि जो बुद्धिमान् और परिश्रमी लोग होते हैं वे इस वेद ज्ञान में पारंगत हो जाते हैं और जो ऐसे नहीं होते वे वेद को देख-सुनकर भी उसे वस्तुतः नहीं जानते। उसी प्रसंग में प्रस्तुत मन्त्र आया है। ज्ञानी ब्राह्मण लोग वेद के विषयों का विचार करने के लिए सभाओं में एकत्र होते हैं। जो अधिक विद्यावान् और वेद में ऊहापोह करने वाले विद्वान् होते हैं वे विचार के प्रत्येक क्षेत्र में यथेष्ट विचरण करते हैं। जो ऐसे नहीं होते हैं वे पिछड़ जाते हैं।

(3) हे परमात्मन् हमारे राष्ट्र में ऐसे ब्राह्मण हों जिनमें ब्रह्मवर्चस हो।

ब्रह्मवर्चस का अर्थ होता है ब्रह्म अर्थात् वेद-विद्या के अध्ययन से प्राप्त होने वाला ज्ञान रूप तेज। यह तेज जिसमें होगा उसे ब्रह्मवर्चसी कहा जायेगा। मन्त्र में ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण अर्थात् वेद का अध्ययन करने वाले ब्राह्मण उत्पन्न करने की प्रार्थना भगवान् से की जा रही है।

(4) सबसे उत्पादक सविता परमात्मा ने ब्राह्मण को ब्रह्म के लिए अर्थात् वेदाध्ययन और अध्यापन के लिए बनाया है।

जिस अध्याय का यह मन्त्र है वहाँ इस मन्त्र से ऊपर के चारों मन्त्रों में सविता का वर्णन चल रहा है। ऊपर के मन्त्र में से ही इस मन्त्र में भी सविता पद की अनुवृत्ति होती है।

(5) जो लोग सामवेद का खूब अध्ययन करने वाले (बृहत्सामानं) और अथर्ववेद का अध्ययन करने वाले (आङ्गिरसं) ब्राह्मण को पीड़ा देते हैं।

जिस प्रकरण का यह मन्त्र है वहाँ ब्राह्मण की गौ अर्थात् वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने वाले राजा को क्या कष्ट सहने पड़ते हैं इसका वर्णन है। मन्त्र में प्रयुक्त हुए साम और अथर्व को शेष वेदों का भी उपलक्षण समझना चाहिए। यहाँ ऋग्वेद आदि का नाम न लेकर सामवेद और अथर्ववेद का नाम लेना और अथर्व का भी आङ्गिरस के नाम से ग्रहण करना इस प्रकरण के लिए उपयुक्त एक अन्य अभिप्राय

[1] संगच्छन्ते यजिरत्र संगतकरणवाचीति सायणः।

[2] ऊह्यमानं ब्रह्मयेषांते इति सायणः।

को भी प्रकट करता है। साम का अर्थ शान्ति भी होता है। जो खूब शान्ति के जीवन में लगा हुआ है उसे बृहत्सामा कहेंगे। अङ्गिरा:[1] का अर्थ अंगारा भी होता है। जिसका जीवन ज्ञानाग्नि के अङ्गारों से सम्बन्ध रखता हो, जिसमें ज्ञानाग्नि धधकती हो, उसे आङ्गिरस कहेंगे। ब्राह्मण में शान्ति भी होती है और ज्ञान के, सत्य के, अङ्गारे भी उसमें धधकते हैं। शान्तिप्रिय और ज्ञानी ब्राह्मणों को जो राजा पीड़ा देता है, उनकी वाणी पर प्रतिबन्ध लगाता है, उसका भारी अहित होगा। साम और आङ्गिरस शब्दों ने वेदवाची होकर यह भी बता दिया कि जीवन में शान्ति और सच्चा ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता है।

(6) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम जो कि ब्रह्म अर्थात् वेद का अध्ययन करने के कारण सबके स्वामी (ईशानः) हो। (7) (बृहस्पतिः) ब्राह्मण (महः) महान् (ज्योतिषः) ज्योति के (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) रक्षात्मक स्थल में (प्रथमं) सब वर्णों में प्रथम (जायमानः) उत्पन्न होने वाला है, वह (सप्तास्यः) वेद के सात छन्दों रूप मुख वाला है (सप्तरश्मिः) इन सात छन्दों के कारण ही सात किरणों वाला है (तुविजातः) ज्ञान के कारण बहुत प्रकार से प्रकट होने वाला वह (रवेण) अपने शब्द-घोष से (तमांसि) अन्धकारों को (वि-अधमत्) नष्ट कर देता है।

ब्राह्मण इसलिए ब्राह्मण होता है कि वह रक्षा करने वाली ज्ञान की ज्योति में सबसे प्रथम होता है। सात छन्दों में बना हुआ वेद पढ़ने के कारण वह सप्तास्य या सात मुखों वाला होता है और इसी सात छन्दों में बने ज्ञान के सूर्य वेद को पढ़ने के कारण वह सप्तरश्मि या सात किरणों वाला हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी होकर वह वेद-ज्ञान की किरणों से संसार के ज्ञानान्धकार को दूर करता फिरता है।

(8) (अपः) प्रजाओं को (स्वः) सुख (सिषासन्) बाँटने की इच्छा वाला (अप्रतीतः) अप्रतिद्वन्द्वी (बृहस्पतिः) ब्राह्मण (अमित्रम्) अपने विरोधी शत्रु को (अर्कैः)[2] वेद मन्त्र से (हन्ति) मारता है।

ब्राह्मण किसी का विरोधी नहीं होता। वह किसी का शत्रु नहीं होता। वह सब प्रजाजनों को सुख देना चाहता है। ज्ञान में उसकी कोई तुलना नहीं कर सकता। इस ज्ञान से ही वह सबको सुख देना चाहता है। यदि उसका कोई शत्रु हो जाये तो वह उसे वेद मन्त्रों से मारता है। उसके पास जाकर प्रेम से उसे वेद का ज्ञान देकर उनके मन को शुद्ध कर देता हैं और इस प्रकार इसके मन में से शत्रुता के भाव दूर

[1] ये अङ्गरा आसंस्ते अङ्गिरसोभवन्। ऐ० 3.34.
अङ्गारेभ्योऽङ्गिरसः (समभवन्)। श० 4.5.1.8.
अङ्गिरा उ ह्यग्निः। श० 1.4.1.25.

[2] अर्को मन्त्रो भवति यदेनेनार्चन्ति। निरु० 5.4.

करके उसे शत्रु रूप में मार देता है। उसे अपना शत्रु नहीं रहने देता। उसे अपना मित्र बना लेता है।

(9) ब्राह्मण (बृहस्पतिः) वेद के लिए (ब्रह्मणे) बाधाओं को सुगमता से तैरने योग्य और कम गहरी बना देवे।

वेद के प्रचार में जो विघ्न और बाधायें आकर खड़ी हों ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के उपायों का अवलम्बन करे जिससे वे मार्ग में न रहें।

(10) ऋग्वेद का ज्ञाता (ऋक्वः) ब्राह्मण (बृहस्पतिः) साम वेद से (सामभिः) अर्चना करे। (11) (नः) हमारे (पिता) पालना करने वाले पिता (बृहस्पतिः) ब्राह्मण ने (ईमां) इस (ऋतप्रजाताम्) सत्य प्रकाश करने वाली अथवा सत्यस्वरूप प्रभु से उत्पन्न होने वाली (सप्तशीर्ष्णीं) गायत्री आदि सात छन्द रूप सिर वाली (बृहतीं) बड़ी भारी (धियं) बुद्धि अर्थात् ज्ञान को (अविन्दत्) प्राप्त किया है। (12) जो वेद मन्त्रों द्वारा (अर्कैः) शुचि है ऐसे ब्राह्मण को (बृहस्पतिम्) नमस्कार करो। (13) ब्राह्मण (बृहस्पतिम्) जो कि सात छन्दों वाले वेद को पढ़ने के कारण सप्तगु अर्थात् सात वाणियों वाला है। (14) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) वेद के साथ (ब्रह्मणा) हमारी ओर आओ।

इन मन्त्रों और मन्त्र-खण्डों में पाठक स्पष्ट देखेंगे कि वेदाध्ययन से ब्राह्मण का गहरा सम्बन्ध है। वेद का स्वाध्याय करना, बेद का ज्ञाता होना, ब्राह्मण का एक विशेष कर्तव्य है।

## बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति एक ही

इस प्रकरण में उद्धृत किये गये मन्त्रों में हमने बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति का अर्थ ब्राह्मण किया है। ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति एक ही हैं यह इन दोनों देवताओं के सूक्तों को पढ़ने से किसी भी पाठक को अनायास ही ज्ञात हो जाता है। ये दोनों नाम ब्राह्मण के हैं यह भी इनके सूक्तों और मन्त्रों को ध्यान से पढ़ने से अनायास ही परिज्ञात हो जाता है। इस सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ पंक्तियाँ यहाँ भी लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

1. ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत। ऋग्० 2.23.1.
2. स संनयः स विनयः पुरोहितः। ऋग्० 2.24.9.
3. सभेयो विप्रो भरते मती धना। ऋग्० 2.24.13.
4. ब्रह्मा राजनि पूर्व एति। ऋग्० 4.50.8.
5. यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा। ऋग्० 4.50.9.
6. ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः। यजु० 18.76; यजु० 21.16.

7. बृहस्पतिना ब्रह्मणा। यजु० 10.30.

8. बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य। यजु० 20.11.

इन उद्धृत मन्त्रों में दूसरे और आठवें मन्त्रों में ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति को पुरोहित कहा गया है। संस्कृत साहित्य में पुरोहित शब्द ब्राह्मण के लिए बहुत अधिक प्रयुक्त होता है। यद्यपि वेद में यह शब्द अपने यौगिक अर्थ में भी बहुत बार प्रयुक्त होता है और तब इसका अर्थ ब्राह्मणपरक होना आवश्यक नहीं होता। उद्धृत तीसरे मन्त्र में ब्रह्मणस्पति को सभाओं में जाने योग्य विप्र कहा है। विप्र शब्द भी संस्कृत साहित्य में अधिकांश में ब्राह्मण के लिए ही प्रयुक्त होता है। यद्यपि वेद में यह शब्द सामान्य बुद्धिमान अर्थ में भी बहुत बार प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत मन्त्र का विप्र का 'सभाओं में जाने योग्य' यह विशेषण उसका बुद्धिमान् ब्राह्मण अर्थ लेने की ओर ही अधिक भार डालता है। उद्धृत चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मन्त्रों में बृहस्पति को ब्रह्मा और ब्रह्म कहा गया है। 'ब्रह्मन्' शब्द का पुल्लिग में प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'ब्रह्मा' होता है और इसी शब्द का नपुंसकलिंग में प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'ब्रह्म' होता है। 'ब्रह्मन्' शब्द का सारे संस्कृत साहित्य में एक अति प्रसिद्ध अर्थ ब्राह्मण होता है। पुल्लिग प्रयोग में तो यह शब्द लौकिक संस्कृत साहित्य में भी ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। वैदिक साहित्य में यह शब्द नपुंसक प्रयोग में भी ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। वैदिक साहित्य का प्रत्येक अध्येता इस बात को भली-भाँति जानता है। इसीलिए वेद के 'ब्रह्मन्'[1] शब्द का अनेक स्थानों पर ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ब्राह्मण' ऐसा स्पष्ट ही अर्थ कर दिया गया है। वेद के 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च' (यजु० 32.16) आदि स्थलों में 'ब्रह्मन्' शब्द का सभी भाष्यकार ब्राह्मण ही अर्थ करते हैं और यही अर्थ इन स्थलों में संगत भी होता है। इसलिए उद्धृत मन्त्रों में ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति को 'ब्रह्मा' या 'ब्रह्म' कहना स्पष्ट ही उसे ब्राह्मण सिद्ध करता है। उद्धृत प्रथम मन्त्र में ब्रह्मणस्पति को 'ब्रह्मन्' लोगों का 'ज्येष्ठराज' कहा गया है। 'ब्रह्मन्' का अर्थ ब्राह्मण होता ही है। इसलिए ब्रह्मणस्पति ब्राह्मणों का ज्येष्ठराज या प्रधान, मुखिया हुआ। और इसलिए वह ब्राह्मण हुआ। वह ब्राह्मणों का ज्येष्ठराज भले ही हो, स्वयं भी ब्राह्मण है ही। इसलिए उसके विशेषणों से ब्राह्मण के गुणों और कर्तव्यों का निर्णय कर सकते हैं जैसाकि इस प्रकरण में हम कर रहे हैं।

इस प्रकार इन मन्त्रों में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति को 'ब्रह्मन्' कहना स्पष्ट ही उसे ब्राह्मण सिद्ध करता है। 'ब्रह्मन्' शब्द के वेद, वेदमन्त्र और परमात्मा आदि अर्थ भी वेद में होते हैं। परन्तु उद्धृत मन्त्रों में इन अर्थों की संगति नहीं हो सकती।

[1] ब्रह्म वै ब्राह्मणः। तै० 3.9.14.2; श० 13.1.5.3.
ब्रह्म हि ब्राह्मणः। श० 5.1.5.2.

यहाँ इसका अर्थ ब्राह्मण ही करना होगा।

इसी प्रसंग में अथर्ववेद के निम्न मन्त्र भी देखिए—

1. अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति।

अथ० 15.10.3.

2. अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति।

अथ० 15.10.4.

3. अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम्। अथ० 15.10.5.

अर्थात्—(1) इसलिए ब्राह्मण (ब्रह्म) और क्षत्रिय (क्षत्रं) उठे, वे बोले कि हम दोनों किस में प्रवेश करें। (2) बृहस्पति में ब्राह्मण प्रवेश कर जाये और इन्द्र में क्षत्रिय प्रवेश कर जाये। (3) इसलिए बृहस्पति में ब्राह्मण प्रविष्ट हो गया और इन्द्र में क्षत्रिय प्रविष्ट हो गया।

वेद के इस प्रसंग से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि बृहस्पति ब्राह्मण है और इन्द्र क्षत्रिय है। यहाँ 'क्षत्र' के साथ आने के कारण 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ ब्राह्मण ही करना होगा। बृहस्पति में ब्राह्मण प्रविष्ट हुआ है और इन्द्र में क्षत्रिय प्रविष्ट हुआ इस कथन का तात्पर्य यह है कि जो सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय है वह इन्द्र कहा जायेगा। यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय के प्रवेश से तात्पर्य ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व के गुणों के प्रवेश से है। बृहस्पति में पूर्ण ब्राह्मणत्व का प्रवेश है और इन्द्र में पूर्ण क्षत्रियत्व का प्रवेश है। पूर्ण ब्राह्मणत्व से आविष्ट बृहस्पति निश्चय ही ब्राह्मण होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी देखने योग्य है। हम अभी ऊपर इस खण्ड में यजुर्वेद का वाक्य पढ़कर आ रहे हैं कि

ब्रह्मणे ब्राह्मणम्।

यजु० 30.5.

अर्थात्—'सबके उत्पादक परमात्मा ने ब्राह्मण को ब्रह्म अर्थात् वेद का अध्ययन और अध्यापन करने के लिए बनाया है।' इसलिए ब्राह्मण वह है जो वेद का अध्ययन और अध्यापन करता हो। ब्राह्मण शब्द का अर्थ ही है—'ब्रह्म अधीते वेद वा'[1]। जो ब्रह्म अर्थात् वेद, परमात्मा आदि का अध्ययन करता हो और उसे जानता हो। उधर ब्रह्मणस्पति शब्द को देखिए। ब्रह्मणस्पति का अर्थ होता है ब्रह्म अर्थात् वेद का पति। जो वेद का अध्ययन और अध्यापन करके वेद की रक्षा करे वह ब्रह्मणस्पति कहलायेगा।[2] ब्रह्मणस्पति का यही अर्थ श्री सायण ने भी अपने भाष्य में किया है। इस प्रकार यजुर्वेद के 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' वाक्य में जो बात कही गई है वही बात

[1] तदधीते तद्वेद। अष्टा० 4.2.59.

[2] ब्रह्मणस्पते मन्त्राधिपते इति ऋग्० 2.24.15 भाष्ये सायणः।

ब्रह्मणस्पति इस नाम में प्रकारान्तर से कही गई है। यजुर्वेद के इस वाक्य में ब्राह्मण का काम स्वाध्याय द्वारा वेद की रक्षा करना, उसका प्रचार करना, बताया गया है। वही काम ब्रह्मणस्पति का है ऐसा उसका यह नाम बता रहा है। इसलिए ब्रह्मणस्पति भी ब्राह्मण ही ठहरता है।

## ब्राह्मण को भाँति-भाँति की विद्याओं का पण्डित होना चाहिए

वेद के अनेक स्थानों का अध्ययन करने से यह भी प्रतीत होता है कि ब्राह्मण को भाँति-भाँति की विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
   विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः॥ ऋग्० 10.97.6.
2. ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
   यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि॥ ऋग्० 10.97.22.
3. बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः। ऋग्० 10.97.15.
4. बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम्। ऋग्० 10 97.19.
5. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
   ऋग्० 1.164.45.
6. यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभि।
   ऋग्० 10.71.8.
7. इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतकरासः।
   ऋग्० 10.71.9.
8. ब्राह्मणमद्य विदेयं ऋषिमार्षेयम्। यजु० 7.46.
9. ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। अथ० 4.6.1.
10. त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम्।
    अथ० 12.3.20.
11. कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्। ऋग्० 2.23.1.
12. देवानां देवतमाय। ऋग्० 2.24.3.
13. विप्रः। ऋग्० 2.24.3.
14. आ वेधसम्....बृहस्पतिम्। ऋग्० 5.43.12.
15. अनूचानो ब्राह्मणो। ऋग्० 8.58.1.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) राजा लोग जिस प्रकार समितियों में एकत्र होते हैं वैसे ही जिसमें सब

ओषधियाँ एकत्र होती हैं वह ज्ञानी ब्राह्मण (विप्रः)[1] वैद्य (भिषग्) कहलाता है, वह रोगकृमियों का नाशक होता है (रक्षोहा) और वही रोगों का नाश करने वाला होता है। (2) सब ओषधियाँ राजा सोम के साथ संवाद करती हैं कि जिस रोगी के लिए ब्राह्मण हमें प्रदान करता है उस रोगी को हे राजन् हम रोग के पार पहुँचा देती हैं। (3) ब्राह्मण के द्वारा प्रेरित की हुई हे ओषधियो तुम हमें रोगों से (अंहसः) मुक्त कर दो। (4) ब्राह्मण (बृहस्पति) के द्वारा प्रेरित की हुई ओषधियो तुम इस रोगी व्यक्ति के लिए बल को प्रदान करो।

ब्राह्मण को सब ओषधियों का ज्ञान होना चाहिए, लोगों के रोगों का निवारण करने के लिए वैद्य का काम भी उसे ही करना चाहिए यह वेद के इन मन्त्रों से स्पष्ट प्रतिपादित होता है। जो व्यक्ति सब ओषधियों का ज्ञान रखता है, सब प्रकार के रोगों की चिकित्सा कर सकता है और भाँति-भाँति के रोगों के उत्पादक कृमियों का भी ज्ञान रखता है और उनका प्रतिकार कर सकता है उस व्यक्ति के लिए इन विषयों से सम्बन्ध रखने वाली कितने प्रकार की विद्याओं का ज्ञाता होना आवश्यक है यह स्वयं सोचा जा सकता है।

(5) वाणी के चार परिमित पद हैं उनको जो बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं वे जानते हैं।

लोक में जितनी वाणी हैं वह चार भागों में विभक्त हैं। वेद के इस कथन का भाष्यकारों ने अनेक प्रकार से व्याख्यान किया है। कई लोग कहते हैं कि यहाँ वाणी के चार पदों से तात्पर्य भूः, भुवः, स्वः, इन तीन व्यहृतियों और चौथे प्रणव अर्थात् ओंकार से है। क्योंकि इन चारों में समस्त वैदिक वाङ्मय का सार आ जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ वाणी के चार पदों से तात्पर्य नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात से है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से हमारी वाणी के ये ही चार विभाग बनते हैं। कई याज्ञिक लोग इन चार पदों का तात्पर्य मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और लौकिक वाणी ऐसा लेते हैं। कोई भाष्यकार इनका तात्पर्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ऐसा लेते हैं। दूसरे भाष्यकार इनका अर्थ त्रयी विद्या और चौथी व्यावहारिक वाणी ऐसा करते हैं। अन्य भाष्यकार इनका अर्थ सर्पादि कीट, पशु, पक्षी और मनुष्यों की वाणी ऐसा कहते हैं। एक दूसरे लोग इन चार पदों का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार अवस्थाओं में होकर प्रकट होने वाली नादात्मिका वाणी करते हैं। वाणी के इन चार पदों का अर्थ कुछ भी किया जाये, इतना स्पष्ट है कि यहाँ प्रयुक्त वाणी शब्द बहुत व्यापक अर्थ का बोधक है। जितने प्रकार की भी वाणी हैं और उसके जितने भी भेद हैं बुद्धिमान् ब्राह्मण लोग

[1] प्राज्ञो ब्राह्मण इति सायणः।

उन सबको जानते हैं। मन्त्र में यह बात स्पष्ट कही गई है। ब्राह्मण लोगों को कितनी अधिक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए यह इस मन्त्र के वर्णन से स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है।

(6) जब ब्राह्मण लोग एकत्र होते हैं तब वे अपने उस समुदाय में अपनी विद्याओं के कारण बहुतों को पीछे छोड़ जाते हैं।

ब्राह्मणों को अनेक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए यह इस मन्त्र के वर्णन से भी स्पष्ट सूचित होता है।

(7) ये जो लोग न इस लोक की ओर (अर्वाक्) चलते हैं अर्थात् इस लोक का ज्ञान रखते हैं और न परलोक की ओर (परः) चलते हैं अर्थात् परलोक का ज्ञान रखते हैं और इस प्रकार न ब्राह्मण बनते हैं और न परोपकार के यज्ञादि कर्म करने वाले (सुतेकरासः) बनते हैं।

इस मन्त्र के वर्णन से यह सूचित होता है कि ब्राह्मण वे लोग हैं जो लोक और परलोक का ज्ञान रखते हैं और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। लोक और परलोक के विषयों का ज्ञान रखने के लिए अग्नि, जल, वायु, पृथिवी, विद्युत् आदि प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का, मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों-व्यवसायों, उनके सामाजिक सम्बन्धों और राज्य-व्यवस्था आदि से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का, आत्मा, परमात्मा, जड़-चेतन, कर्मफल, पुनर्जन्म, बन्ध और मोक्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का ज्ञान रखना आवश्यक है। इन विषयों की विद्याओं से अवगति प्राप्त किये बिना लोक और परलोक का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार इस मन्त्र के वर्णन से भी यह स्पष्ट निर्देश मिल जाता है कि ब्राह्मण को कितनी अधिक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए।

(8) आज मैं उस ब्राह्मण को प्राप्त करूँ जो ऋषि है और आर्षेय है।

ऋषि उस ज्ञानी को कहते हैं जिसकी बुद्धि सब प्रकार के विषयों में गति करने की शक्ति रखती है और जो दूर भविष्य की बात को भी अपने ज्ञान के आधार पर जान लेने का सामर्थ्य रखता है। ब्राह्मण को इस प्रकार का ऋषि, इस प्रकार का ज्ञानी, होना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञानी कोई व्यक्ति अनेक विद्याओं के अभ्यास से ही हो सकता है। आर्षेय[1] का अर्थ होता है जो ऋषियों से सम्बन्ध रखता हो, ऋषियों में प्रसिद्ध हो। ब्राह्मण को आर्षेय कहने का भाव यह है कि उसे ऐसा ज्ञानी होना चाहिए कि दूसरे ज्ञानियों में उसकी प्रसिद्धि हो। ब्राह्मण का यह वर्णन भी स्पष्ट सूचित करता है कि उसे अनेक प्रकार के विषयों का ज्ञाता होना चाहिए।

[1] ऋषिषु विख्यात आर्षेयस्तं ज्ञानेन सुज्ञातमित्यर्थः। इति महीधरः।

(9) ब्राह्मण सब वर्णों में प्रथम उत्पन्न हुआ है, वह दस सिरों और दस मुखों वाला है ।

ब्राह्मण अपने ज्ञान के कारण सब वर्णों में प्रथम बनाया गया है । उसमें अन्य वर्णों की अपेक्षा कितना अधिक ज्ञान रहना चाहिए यह उसके दस सिरों वाला (दशशीर्ष:) और दस मुखों वाला (दशास्य:) इन विशेषणों से सूचित होता है । हमारा सिर हमारे ज्ञान का श्रेष्ठ केन्द्र होता है । ब्राह्मण के पास मानों दूसरे वर्ण वाले लोगों की तुलना में दस सिर होते हैं—उसके पास उनकी अपेक्षा दस गुणा ज्ञान होता है । अपने उस दस गुणा ज्ञान को वह दस मुखों वाला होकर ही दूसरों तक पहुँचाता है । ब्राह्मण का यह वर्णन भी स्पष्ट बताता है कि उसे अनेक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए ।

(10) तीनों लोक ब्राह्मण के द्वारा भली-भाँति जाने हुए (संमिता:) होते हैं, वह लोक हैं—द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष लोक ।

ब्राह्मण को तीनों लोकों का ज्ञाता होना चाहिए । तीनों लोकों में अनेक प्रकार के पदार्थ हैं जिनके विषय में अनेक विद्याएँ बन जाती हैं । ब्राह्मण को तीनों लोकों का पूर्ण ज्ञाता होने के लिए इन सब पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं को जानना होगा । भाँति-भाँति की विद्याओं का ज्ञाता ब्राह्मण को होना चाहिए यह इस मन्त्र में असंदिग्ध रूप में बताया गया है ।

(11) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) क्रान्तदर्शी ज्ञानियों में (कवीनां) सबसे अधिक क्रान्तदर्शी ज्ञानी होता है, उसका श्रवण अर्थात् विद्याध्ययन उपमा के योग्य होता है (उपमश्रवस्तमम्) ।

क्रान्तदर्शी ज्ञानी को, पदार्थों का गहराई का ज्ञान रखने वाले ज्ञानी को, कवि कहते हैं ब्राह्मण कवियों में भी कवि होता है । वह पदार्थों का बहुत ही अधिक गहरा ज्ञान रखने वाला होता है । उसका ज्ञान, उसका श्रवण, उसका अध्ययन इतना अधिक होता है कि लोग उसकी उपमा देते हैं । ब्राह्मण का यह वर्णन भी स्पष्ट बताता है कि उसे कितना अधिक ज्ञानी, कितनी अधिक विद्याओं का वेत्ता, होना चाहिए ।

(12) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) विद्वानों में (देवानां)[1] सबसे अधिक विद्वान् होता है।

भाँति-भाँति की विद्याओं को जानने वाले व्यक्ति को विद्वान् कहते हैं । ब्राह्मण को विद्वानों में सबसे अधिक विद्वान् होना चाहिए । मन्त्र में विद्वान् के लिए देव शब्द का प्रयोग हुआ है । यह शब्द 'दिवु' धातु से बनता है । इस धातु के क्रीडा आदि दस अर्थ होते हैं । उन सब अर्थों में, सब कामों में, जो कुशल होगा उसे देव कहा जायेगा। उन सब कामों में कुशल व्यक्ति एक भारी विद्वान् ही हो सकता है । इसलिए शतपथ

[1] विद्वांसो हि देवा: । शत० 3.7.3.10.

ने देव का जो अर्थ विद्वान् किया है, वह ठीक ही किया है। ब्राह्मण को देवों में देव—विद्वानों में विद्वान् होना चाहिए।

(13) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) विप्र होता है।

यहाँ ब्राह्मण को विप्र कहा गया है। निघण्टु में विप्र का मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् अर्थ दिया है। विप्र उस मेधावी विद्वान् को कहते हैं जो समय-समय पर उत्पन्न होने वाली विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। ब्राह्मण को इस प्रकार का ज्ञानी विद्वान् होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी अनेक विद्याओं का ज्ञाता व्यक्ति ही हो सकता है।

(14) ब्राह्मण (बृहस्पति) को वेधा (आवेधसम्) होना चाहिए।

'वेधाः' उस विद्वान् को कहते हैं जो नये-नये आविष्कार कर सकता है, नई-नई चीजें बना सकता है। मन्त्र में 'वेधा' के साथ 'आ' उपसर्ग लगा दिया गया है। 'आ' का अर्थ होता है 'चारों ओर'। जिसकी प्रतिभा चारों ओर चलती हो, जो सभी क्षेत्रों में नये-नये आविष्कार कर सकता हो, उस विद्वान् को 'आवेधाः' कहा जायेगा। ब्राह्मण को इस प्रकार का विद्वान् होना चाहिए। ऐसा विद्वान् अनेक विद्याओं का ज्ञाता पुरुष ही हो सकता है।

(15) ब्राह्मण अनूचान होता है।

जिसने गुरु के मुख से भाँति-भाँति की वेदादि शास्त्रों की विद्याओं को पढ़ा है उसे अनूचान कहते हैं। ब्राह्मणों को अनूचान होना चाहिए। उन्हें विविध प्रकार की विद्याओं का अध्ययन करना चाहिए।

वेद के इन और ऐसे ही अन्य सन्दर्भों से यह भली-भाँति विदित होता है कि ब्राह्मण को भाँति-भाँति की विद्याओं का पण्डित होना चाहिए।

## ब्राह्मण को विद्या पढ़ाने का कार्य करना चाहिए

वेद के अनेक प्रसंगों के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि ब्राह्मण का एक कर्तव्य सबको विद्या पढ़ाना भी है। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

1. ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः। ऋग्० 7.103.7.
2. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्। ऋग्० 7.103.8.
3. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु। ऋग्० 1.15.5.
4. ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः। ऋग्० 6.75.10.
5. देवा वशामयाचन्मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्। अथ० 12.4.20.

6. वशां च विद्वान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः । अथ० 12.4.16.
7. ब्राह्मणां अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् । अथ० 10.5.41.
8. ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन । अथ० 4.19.2.
9. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ।। ऋग्० 1.18.6.
10. ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे । ऋग्० 1.40.1.
11. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । ऋग्० 1.40.3.
12. तमृत्विया उप वाचः सचन्ते सर्गो न यो देवयतामसर्जि । ऋग्० 1.190.2.
13. विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि । ऋग्० 2.23.2.
14. हवामहेऽवस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम् । ऋग्० 2.23.8.
15. प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि । ऋग्० 2.23.10.
16. ऋतप्रजात । ऋग्० 2.23.15.
17. इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम् । ऋग्० 2.23.18.
18. बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम् । ऋग्० 2.24.1.
19. स संनयः स विनयः । ऋग्० 2.24.9.
20. देवानां पितरम् । ऋग्० 2.26.3.
21. सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि । ऋग्० 4.50.4.
22. अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ।। ऋग्० 10.67.4.
23. अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् । ऋग्० 10.68.5.
24. क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन् । ऋग्० 10.182.1.
25. बृहस्पते यत्ते मनुर्हितं तदीमहे । ऋग्० 1.106.5.
26. अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन् बृहस्पते । ऋग्० 10.98.3.
27. यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद्देवैः संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ।। अथ० 19.40.1.
28. बृहस्पते⋯ज्योतयैनं⋯संशितं चित्सन्तरं शिशाधि । अथ० 7.16.1.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) (ब्राह्मणासः) ब्राह्मण लोग (न) जिस प्रकार (अतिरात्रे) अज्ञानान्धकार को रात्रि का अतिक्रमण करने वाले (सोमे) स्नातक में (न)[1] सम्प्रति (पूर्णम्) भरे हुए (सरः) गुरु से बहकर शिष्य में जाने वाले विद्या के सरोवर को (अभितः) सब ओर से (वदन्तः) बोलकर उपदेश कर देते हैं।

सोम का अर्थ स्नातक होता है। मन्त्र कहता है कि ब्राह्मण लोग विद्या के सरोवर का उपदेश करके उसे स्नातकों में डाल देते हैं और इस प्रकार उनके अज्ञान की रात्रि को दूर कर देते हैं।

(2) ब्राह्मण लोग सोम अर्थात् स्नातकों को बनाने वाले (सोमिनः) होते हैं, वे सालभर वेद का अध्ययन करते हुए शिष्यों में अपनी वाणी को (वाचं) डाल देते हैं।

गुरुकुल में रहकर पूर्ण विद्या-प्राप्त—विद्या में स्नान किया हुआ—व्यक्ति सोम कहलाता है। ब्राह्मण लोग सोम हैं। वे इस प्रकार के सोमों को—स्नातकों को—तैयार करते हैं। वे अपनी वाणी के द्वारा शिष्यों में ज्ञान भर कर उन्हें स्नातक बनाते हैं।

(3) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम कार्यों में सिद्ध करने वाले (राधसः) ब्राह्मणों से ऋतुओं के अनुसार सोम का पान करो।

ब्राह्मण सोमों को—स्नातकों को—तैयार करते हैं। वर्ष की प्रत्येक ऋतु में वे स्नातकों को तैयार करते हैं। सम्राट् ब्राह्मणों द्वारा तैयार किये हुए सोमों—स्नातकों—को राज्य के पदों पर नियुक्त करता है। इस प्रकार इन्द्र ब्राह्मण के द्वारा तैयार किये हुए सोम का पान करता है।

(4) ब्राह्मण लोग पालक हैं (पितरः) वे सोमों का निर्माण करने वाले (सोम्यासः)[2] हैं।

ब्राह्मण लोग शिक्षा द्वारा क्योंकि सोमों का—स्नातकों का—निर्माण करते हैं इसलिए वे राष्ट्र के पालक पितर हैं।

(5) भाँति-भाँति के व्यवहारशील विद्वान् लोग (देवाः) ब्राह्मण को मुख बनाकर वशा की याचना करते हैं।

(6) मनुष्यों को नीति का दान करने वाले (नारद)[3] हे पुरुष यदि तुम वशा को जानना चाहते हो तो ब्राह्मणों को खोजना चाहिए।

ये दोनों मन्त्र अथर्ववेद के 12वें काण्ड के चौथे सूक्त के हैं। इस सूक्त में इस

[1] द्वितीयो न शब्दः सम्प्रत्यर्थे इति सायणः।

[2] साम्याः सोमसम्पादिनः। निरु० 11.18.

[3] नृ नये-घञ्, दा क। नारं नयं नीतिं ददातीति नारदः।

विषय का वर्णन है कि जब कोई व्यक्ति ब्राह्मण के पास जाकर उससे उसकी वाणी, उसका ज्ञान, सीखना चाहे तब यदि कोई उसमें बाधा डालना चाहे—ब्राह्मणों से ज्ञान सीखने में रुकावट पैदा करना चाहे—तो राजा का कर्तव्य है कि वह ऐसे लोगों को दण्डित करे। सूक्त में ब्राह्मण की वाणी को, उसकी विद्या-भारती को, गौ शब्द से कहा गया है। गौ का एक अर्थ वाणी भी होता है यह संस्कृत वाङ्मय से थोड़ा भी परिचय रखने वाला व्यक्ति भली-भाँति जानता है। इसी गौ के लिए सूक्त में दूसरा शब्द वशा प्रयुक्त किया गया है। वशा शब्द 'वश कान्तौ' धातु से बनता है जिसका अर्थ चाहना होता है। चाहने योग्य होने से कारण सूक्त में ब्राह्मण की वाणी को वशा कहा गया है। क्योंकि उसके द्वारा सत्यासत्य का विवेक होता है, खोटे-खरे का ज्ञान होता है, भाँति-भाँति के ज्ञान का उपदेश मिलता है, इसलिए ब्राह्मण की वाणी चाहने योग्य है। जब ब्राह्मण की गौ—वाणी—माँगने वालों को नहीं दी जाती तब वह मानो काणी, लंगड़ी आदि हो जाती है अर्थात् निकम्मी हो जाती है। इस प्रकार का आलंकारिक वर्णन इस सारे सूक्त में है। कई लोग इस सूक्त में वशा का अर्थ वन्ध्या गौ करते हैं। सूक्त की वशा या गौ का यह अर्थ करने पर सूक्त का वर्णन इस अर्थ में बिल्कुल संगत नहीं हो सकता और सारा सूक्त एक विचित्र प्रकार के बकवास का पिटारा बन जाता है। जो अर्थ हमने किया है उससे सारा सूक्त बड़ा सुन्दर और सारगर्भित उपदेश देने लगता है।

इस भूमिका के पश्चात् अब उद्धृत दोनों मन्त्रों को देखिये। जो लोग देव अर्थात् भाँति-भाँति के व्यवहार-कोविद विद्वान् बनना चाहते हैं वे ब्राह्मण से वशा की याचना करते हैं। जो व्यक्ति नारद बनना चाहता है—लोगों को नीति का, धर्म का, उपदेश करना चाहता है उसे वशा को प्राप्त करना चाहिए और इसके लिए उसे उत्तम ब्राह्मणों की खोज करनी चाहिए। भाव यह है कि ऐसे व्यक्तियों को ब्राह्मण के पास जाकर उनकी वाणी सुननी चाहिए—उससे ज्ञान सीखना चाहिए।

(7) मैं ब्राह्मणों के पास जाता हूँ वे मुझे ऐश्वर्य का दान करें—वे मुझे अपने ब्राह्मणवर्चस का दान करें।

ब्राह्मणों के पास उनका ब्राह्मणवर्चस ही ऐश्वर्य है जिसका वे दान करते हैं। ब्राह्मणवर्चस का अर्थ है—ब्राह्मणों का तेज। ब्राह्मणों का तेज उनकी वेद आदि शास्त्रों की विद्या का बल ही होता है। ब्राह्मणों को अपना यह ब्रह्मतेज का—विद्या के तेज का ऐश्वर्य सदा दान करते रहना चाहिए।

(8) हे ओषधि बुद्धिमान् (कण्वेन)[1] और मनुष्यों की सभाओं के हितकारी

[1] कण्व इति मेधाविनाम। निघ० 3.15.

(नार्षदेन)[1] ब्राह्मण ने तुम्हारा उपदेश किया है ।

जो ब्राह्मण मनुष्यों की सभाओं के—मनुष्यों के समूहों के—हितकारी हैं वे नार्षद हैं । ऐसे जनहितकारी मेधावी ब्राह्मण लोगों को ओषधियों के ज्ञान का उपदेश करते हैं । आयुर्वेद शास्त्र का अध्यापन करते हैं ।

(9) जो सभाओं का पति है (सदसस्पतिम्), इन्द्र (सम्राट्) का प्यारा और चाहने योग्य है, अपनी शक्तियों का दान करने वाला है, ऐसे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) से मैंने मेधा को प्राप्त किया है ।

अपने ज्ञान के कारण ब्राह्मण सभाओं का पति बनता है । वह अपने ज्ञान की शक्ति को अन्य लोगों को दान करता है—उन्हें शिक्षित करता है और इस प्रकार लोगों को मेधा प्राप्त होती है ।

(10) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) अपने आपको देव अर्थात् भाँति-भाँति के व्यवहारों में निपुण विद्वान् बनाने की इच्छा वाले हम लोग तुमसे इस देवत्व की याचना करते हैं (ईमहे)[2] ।

जिसे देव बनने की, भाँति-भाँति के व्यवहारों का ज्ञाता विद्वान् बनने की इच्छा हो वह ब्राह्मणों के पास जाये और उनसे ज्ञान सीखकर अपने भीतर देवत्व प्राप्त करे ।

(11) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) हमें प्राप्त हो, उससे सत्य और मधुर वाणी हमें प्राप्त हो ।

हमें ब्राह्मणों की सेवा में जाना चाहिए । हमें वह प्रकार सिखायेंगे जिससे हम सदा सच्ची और मधुर वाणी का ही उच्चारण किया करेंगे ।

(12) उस ब्राह्मण को (बृहस्पति) समयोचित (ऋत्विष्या:)[3] वाणियाँ प्राप्त होती हैं, जो अपने आपको देव अर्थात् विद्वान् बनाना चाहते हैं ऐसे पुरुषों के (देवयताम्) देवत्व का निर्माण करने वाला (सर्गः) प्रभु ने उसे बनाया है ।

ब्राह्मण को समयोचित वाणियाँ बोलनी आती हैं । वह समय की आवश्यकता को पहचानने वाला होता है और उसके अनुसार ही वाणियाँ बोलकर लोगों का मार्ग-प्रदर्शन कर देता है । भगवान् ने ब्राह्मण को मानो देवत्व स्रष्टा बनाया है । जो देव बनना चाहें—विद्वान् बनना चाहें—वे ब्राह्मण के पास जायें । ब्राह्मण उन्हें भाँति-भाँति के ज्ञान की शिक्षा देकर देव बना देगा ।

(13) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम सब प्रकार के ब्राह्मणों के (ब्रह्मणाम्)

[1] नोरऽन्न सीदन्तीति नृषत् जनसभा। तस्यै हितो नार्षदः ।

[2] याचामहे इति सायणः ।

[3] प्राप्तकालीना इति सायणः ।

उत्पन्न करने वाले हो।

ब्राह्मण लोग विद्या पढ़ाकर आगे आने वाले नये ब्राह्मणों को तैयार करते हैं। ब्रह्म शब्द वेद का भी वाचक होता है। वेद ज्ञान का ग्रन्थ है। इसलिए ब्रह्म शब्द समग्र ज्ञान का वाचक भी उपलक्षण से हो जाता है। क्योंकि बीजरूप में, मनुष्य के लिए उपयोगी सभी प्रकार का ज्ञान वेद में है। तब मन्त्र का भाव यह होगा कि ब्राह्मण सब प्रकार के ज्ञानों का उत्पादक है। वह ज्ञान के नये-नये आविष्कार करता है और उन्हें पढ़ाकर अगली पीढ़ी को सौंप देता है।

(14) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम अपनी रक्षा द्वारा हमें दुःखों से पार करने वाले (अवस्पर्तः) हो, तुम सदा हमारा हित चाहते हो, तुम ज्ञान के वक्ता हो (अधिवक्तारम्) हम तुम्हें ज्ञान सीखने के लिए बुलाते हैं। (15) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) हम उत्तम प्रशंसा वाले होकर तुमसे प्राप्त होने वाली बुद्धियों के द्वारा (मतिभिः) इस संसार के कष्टों से तर जायें।

ब्राह्मण हमें ज्ञान सिखाकर बुद्धि प्रदान करता है और हम उन बुद्धियों के द्वारा उत्तम कर्म करने के कारण प्रशंसा प्राप्त करते हैं एवं संसार के कष्टों से बच जाते हैं।

(16) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम ऋत अर्थात् सत्य ज्ञान को उत्पन्न करने वाले हो।

ब्राह्मण अपनी शिक्षा द्वारा दूसरों में सत्य ज्ञान को उत्पन्न कर देता है। इस लिए वह ऋतप्रजात कहलाता है।

(17) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम अन्धकार में पड़े हुए प्रजाओं के (अयां) समुद्र को इन्द्र (सम्राट्) के साथ मिलकर सरल मार्ग पर लाते हो (निरौब्जः)[1]।

जब राष्ट्र का जन-समूह अन्धकार में पड़ा होता है—ज्ञान से शून्य होता है—जब सम्राट् की सहायता लेकर ब्राह्मण लोग उसमें ज्ञान का प्रचार करते हैं, उसे प्रकाश देते हैं और इस प्रकार उसे अन्धकार से निकाल कर प्रकाश के ऋजु—सरल—मार्ग पर लाते हैं।

(18) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) तुम हमें मति की सिद्धि कराओ।

ब्राह्मण लोग भाँति-भाँति के ज्ञान का उपदेश करके लोगों को मति अर्थात् मननशील बुद्धि की सिद्धि कराते हैं।

(19) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) लोगों को उत्तम नीति देने वाला (संनयः) और उत्तम शिक्षा देने वाला (विनयः) होता है।

(20) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पतिः) देवों अर्थात् विद्वानों का पितर होता है।

[1] उब्ज आर्जवे। नितरामृजुगामिनकमरोः।

ब्राह्मण विद्याओं का उपदेश करके लोगों को देव अर्थात् विद्वान् बनाता है। इसलिए वह देवों का पितर तो है ही।

(21) ब्राह्मण (बृहस्पति) सात प्रकार के छन्दों में बने हुए वेद को पढ़ने के कारण सात मुखों और सात किरणों वाला होकर अपने शब्दघोष से अन्धकार को मार भगाता है।

ब्राह्मण वेद को और तदुपलक्षित विद्याओं को पढ़कर उन्हें औरों को पढ़ाता है और इस प्रकार उन तक अपने ज्ञान की किरणें पहुँचाता है जिससे उनका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

(22) (द्वाभ्यां) दो से (अवः) नीचे और (एकया) एक से (परः) ऊपर (गुहा) गुफा में (तिष्ठन्तीः) पड़ी हुई, और इसीलिए (अनृतस्य) असत्य के (सेतौ) जलाशय में, पड़ी हुई (गाः)[1] विद्या-वाणियों को (तमसि) अन्धकार में (ज्योतिः) प्रकाश को (इच्छन्) चाहता हुआ (बृहस्पतिः) ब्राह्मण (उस्राः)[2] किरणों के रूप में (उदाकः)[3] प्रकट करता है और (तिस्रः) तीनों लोकों को (वि आवः) खोल देता है।

जब हम अज्ञान में होते हैं, जब हम किसी प्रकार के ज्ञान की कोई बात नहीं कर सकते, तब हमारी ज्ञान प्रकाशिका वाणियाँ मानो गुफा में पड़ी होती हैं। उस समय वे मानो असत्य के तालाब में पड़ी होती हैं।

ज्ञान न होने से न हम दूसरों को उसका बोध करा सकते हैं और न ही दूसरे लोग हमें उसका बोध करा सकते हैं। तब सत्य ज्ञान के अभाव में हम असत्य का ही आचरण करते हैं। हमारी वाणियाँ उस समय असत्य के समुद्र में डूबी होती हैं। ब्राह्मण लोग इस असत्य की, इस अन्धकार की, अवस्था से हमारा उद्धार करना चाहते हैं। इस अन्धकार में वे ज्योति लाना चाहते हैं। तब वे अपनी ज्ञानभरी वाणियों को किरणों के रूप में प्रकट करते हैं। और अपनी वाणी की ज्ञानभरी किरणों से तीनों लोकों को हमारे आगे खोलकर रख देते हैं। तीनों लोकों के पदार्थों का ज्ञानोपदेश हमें कर देते हैं।

मन्त्र में कहा है कि जब हमारी वाणियाँ गुफा में—अन्धकार में पड़ी होती हैं तब वे दो के नीचे और एक के ऊपर होती हैं। इस कथन का भाव समझ लेना चाहिए। हम पृथिवी लोक पर रहते हैं। पृथिवी हमारे से नीचे है और हम पृथिवी के ऊपर हैं। हम से ऊपर अन्तरिक्ष और द्यौः ये दो लोक और हैं। हम दोनों लोकों के नीचे हैं। ऐसी स्थिति में हमारी वाणियाँ गुफा में पड़ी हैं। हमारे ऊपर और नीचे

[1] गौः वाङ्नाम। निघ० 1.11।
[2] उस्रा रश्मिनाम। निघ० 1/5।
[3] प्रादुर्भूता अकार्षीत् इति सायणः।

जगत् के इतने पदार्थ हैं। पर हमें उनमें से किसी का भी ज्ञान नहीं होता है। हम किसी के वारे में भी कोई ज्ञान की, सही, बात नहीं कर सकते हैं। इसीलिए हमारी वाणियाँ मानो गुफा में पड़ी होती हैं।

मन्त्र में लोकों को सूचित करने के लिए जो दो, एक और तीन ये संख्यावाची शब्द प्रयुक्त किये गये हैं वे स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किये गये हैं। इसका कारण यह है कि वेद में कई स्थानों पर तीनों ही लोकों के लिए पृथिवी और भूमि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं। पृथिवी शब्द के स्त्रीलिंग को ध्यान में रखकर मन्त्र में लोकों के सूचक संख्यावाची शब्दों में स्त्रीलिंग का प्रयोग कर दिया गया है।

वेद में वाणी के वाचक शब्द ज्ञान के लिए, विद्या के लिए, भी प्रयुक्त हुआ करते हैं। क्योंकि वाणी और ज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान वाणी के द्वारा ही प्रकाशित हो सकता है। जब कोई व्यक्ति बोलता है तो वह अपनी वाणी द्वारा कोई ज्ञान ही दूसरे व्यक्ति तक पहुँचा रहा होता है। यजुर्वेद के 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' (यजु० 26.2) मन्त्र में वाक्—वाणी—शब्द से स्पष्ट ही वेद-विद्या को कहा गया है। इसी आधार पर हमने प्रस्तुत मन्त्र में 'गाः' का अर्थ विद्या-वाणियाँ ऐसा कर दिया है।

श्री सायण ने मन्त्र में 'बृहस्पतिः तमसि ज्योतिरिच्छन्' इस वाक्य के होते हुए भी मन्त्र के 'गाः' और 'उस्राः' शब्द का जो गौ अर्थ कर दिया है और मन्त्रों में देवों की गौओं को चुराने वाले पणियो की कथा को ला घुसेड़ा है वह मन्त्र के ऊँचे भाव को सर्वथा न समझने के कारण किया है।

(23) ब्राह्मण (बृहस्पतिः) लोगों के हृदयाकाश से अन्धकार को इस प्रकार प्रकाश के द्वारा दूर कर देता है जैसे वायु पानी पर से शैवाल को (शीपालम्)[1] दूर कर देता है।

विद्या न होने के कारण लोगों के हृदयों में अन्धकार होता है। ब्राह्मण उन्हें विद्या का प्रकाश देता है जिससे उनके हृदय का अज्ञानान्धकार सर्वथा दूर हो जाता है।

(24) ब्राह्मण (बृहस्पति) अशस्ति को दूर फेंक देता है और दुर्मति को मार देता है।

लोगों के आचरणों और मनों में जो अशस्ति होती है, जो बदसूरती होती है, तथा उनमें जो दुर्मति होती है—जो दुष्ट या अधूरा ज्ञान होता है—ब्राह्मण सही ज्ञान के उपदेश द्वारा उसे दूर हटा देता है।

[1] शैवालमिवेति सायणः।

(25) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) जो तुम्हारे भीतर ज्ञान (मनुः)[1] है उसे हम तुमसे माँगते हैं।

ब्राह्मणों में ज्ञान होता है। ब्रह्म अर्थात् वेदादि शास्त्रों के ज्ञान का अध्ययन करने के कारण ब्राह्मण को ब्राह्मण कहा जाता है। ज्ञानवान् ब्राह्मणों के पास जाकर हमें उनसे ज्ञान सीखना चाहिए।

(26) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) तुम हमारे मुख में तेजस्विनी (द्युमतीं)[2] वाणी को धारण कराओ (धेहि)।

ब्राह्मण के पास ज्ञान का तेज होता है। इससे उसकी वाणी तेजस्विनी बन गई होती है। जब हम उसके पास जाकर ज्ञान सीखते हैं तो उस ज्ञान से हमारी वाणी भी तेजस्विनी हो जाती है।

(27) जो मेरे मन का छिद्र है, मेरी वाणी का छिद्र है, अथवा जो विद्या-देवी (सरस्वती) मेरे प्रति क्रोधयुक्त व्यवहार को (मन्युमन्तं) प्राप्त हो गई है, ब्राह्मण लोग (बृहस्पतिः) सब राज्याधिकारी देवों के साथ (देवैः) मिलकर मेरे इस छिद्र को मिला देवें (संदधातु)।

मन के दोष मन के छिद्र और वाणी के दोष वाणी के छिद्र कहलाते हैं। हमारे मन और वाणी में जो दोष हों उन्हें ब्राह्मण लोगों की संगति में जाकर उनसे ज्ञान सीखकर दूर कर लेना चाहिए। यदि विद्या-देवी हमसे क्रुद्ध हो गई हो—किसी किस्म कि कोई विद्या हमें न आती हो—तो ब्राह्मणों की सेवा में जाकर हमें उसे भी प्रसन्न कर लेना चाहिए। उनकी सेवा में जाकर हमें भाँति-भाँति की विद्याओं का अध्ययन करके अपने अज्ञान को दूर कर लेना चाहिए।

(28) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) इसको प्रकाशित करो (ज्योतय)[3] यह संशित अर्थात् ज्ञान के कारण तीक्ष्ण है तो भी इसे और ज्ञान सिखाकर और अच्छी तरह तीक्ष्ण करो—और अच्छी तरह शिक्षित करो (संशिशाधि)।

जब तक हमारे पास ज्ञान नहीं होता तब तक हमारी बुद्धि कुण्ठित होती है। जब हम ज्ञान सीख जाते हैं तब हमारी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है—तेज हो जाती है। हमें अपने आपको ज्ञानवान् बनाने के लिए—संशित होने के लिए—ब्राह्मणों की संगति में जाकर विविध प्रकार की विद्याएँ सीखनी चाहिए। उनकी संगति हमें संशितव्रत विद्वान् बना देगी।

[1] मननात्मकं ज्ञानम्। मनुर्मननात्। निरु० 12.33 ; मनुः मननशक्तिरिति तै० 2.3.8.3 व्याख्यायां सायणः।

[2] दीप्तिमतीमिति सायणः।

[3] द्योतयेति सायणः। ज्योतते ज्वलतिकर्मा। निघ० 1.16।

वेद के इन और ऐसे ही अन्य स्थलों से यह असंदिग्ध रूप में ज्ञात होता है कि ब्राह्मण का एक मुख्य कर्तव्य प्रजाओं को विविध प्रकार की विद्याओं का पढ़ाना है।

## ब्राह्मणों को यज्ञ-यागादि करना-कराना चाहिए

वेद का स्वाध्याय करते हुए ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक और बात जो अति स्पष्ट रूप में पाठक के सामने आती है वह यह है कि ब्राह्मणों को यज्ञ-यागादि कर्म करने-कराने चाहिए। इस विषय में वेद के निम्न कुछ मन्त्रों को देखिए—

1. उप यज्ञमायन् ब्राह्मणः। ऋग्० 10.88.19.
2. ब्राह्मणासः···अध्वर्यवः। ऋग्० 7.103.8.
3. यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। ऋग्० 1.18.7.
4. आदृध्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम्। ऋग्० 1.18.8.
5. देवाश्चित् ते असुर्य प्रचेतसो यज्ञियं भागमानशुः। ऋग्० 2.23.2.
6. इन्धानो अग्निं यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः। ऋग्० 2.25.1.
7. एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः। ऋग्० 4.50.6.
8. यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त। ऋग्० 10.67.2.
9. करद्यजमानाय शं योः। ऋग्० 10.182.1.
10. शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत। ऋग्० 3.62.5.
11. बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः। अथ० 18.3.41.
12. बृहस्पतिपुरोहिता देवाः। यजु० 20.11.
13. स पुरोहितः। ऋग्० 2.24.9.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ब्राह्मण यज्ञ को प्राप्त होता है। (2) ब्राह्मण लोग यज्ञों को चाहने वाले होते हैं। (3) जिस ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) के बिना बुद्धिमान् का भी यज्ञ सिद्ध नहीं होता है। (4) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) हविष्कृति अर्थात् यज्ञोपयोगी सामग्री के विधान को बढ़ाता है और यज्ञ को अग्रगामी बनाता है अर्थात् पूर्ण करता है। (5) हे बुद्धि अथवा प्राण देने वालों के हितकारी (असुर्य)[1] ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) उत्कृष्ट चित्त वाले देव अर्थात् विविध प्रकारों के व्यवहारों में कुशल विद्वान् लोग भी यज्ञ सम्बन्धी भाग को तुम से ही प्राप्त करते हैं। (6) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) जिस-जिसको अपना मित्र (युजं) बना लेता है वह अग्नि का समिन्धन करता है अर्थात् यज्ञ करता है। (7) जो

[1] असुः प्राण नाम। निरु० 10.34 असुः प्रज्ञानाम। निघं० 3.4 असुं प्राणं प्रज्ञां वा राति ददाति असुरः। असुराय हितः असुर्यः।

विद्या आदि दान के कारण सबका पिता है, सब देव पुरुषों का हितकारी है, कल्याण की वर्षा करने वाला है, ऐसे ब्राह्मण (बृहस्पति) के लिए हम यज्ञों, हवियों और नमस्कार से सत्कार करें। (8) ब्राह्मण (बृहस्पति) को यज्ञ का प्रथम धाम मानते हैं। (9) ब्राह्मण (बृहस्पति) यज्ञ करने वाले यजमान के लिए रोगों का शमन (शं)[1] करता है और भयों को दूर (योः) करता है। (10) जो वेद मन्त्रों के द्वारा (अर्कैः) पवित्र है ऐसे ब्राह्मण (बृहस्पति) को यज्ञों में नमस्कार करो। (11) ज्ञानी (ऋषिः) ब्राह्मण (बृहस्पति) यज्ञ का विस्तार करता है। (12) देव अर्थात् विद्वान् लोग ब्राह्मण (बृहस्पति) को अपने यज्ञों में पुरोहित बनाते हैं। (13) वह ब्राह्मण (बृहस्पति) यज्ञों में पुरोहित होता है।

इन मन्त्रों के वर्णन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि ब्राह्मण के कर्तव्यों में से यज्ञ-यागादि करना-कराना भी एक मुख्य कर्तव्य है। यज्ञ शब्द वैदिक साहित्य में दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो अग्नि होत्रादि कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञों के अर्थ में और दूसरे समाज के योगक्षेम के उद्देश्य से, परस्पर मिलकर, किये जाने वाले किसी भी प्रकार के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कर्मों और संघटनों के अर्थ में। ये दोनों ही प्रकार के यज्ञ करना और कराना ब्राह्मण का कर्तव्य है। दोनों ही प्रकार के यज्ञों का पुरोहित ब्राह्मण बनेगा। ब्राह्मण के पुरोहितत्व में यज्ञ करने वाले यजमानों के यज्ञ भी सफल यज्ञ होते हैं।

## यज्ञों में हिंसा वेद-विहित नहीं

यहाँ उद्धृत मन्त्रों में से दूसरे, चौथे, और दसवें मन्त्रों में यज्ञ के लिए 'अध्वर' शब्द का प्रयोग हुआ है। अध्वर का शब्दार्थ होता है जिसमें हिंसा न होती हो। वेद में यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट ध्वनित करता है कि यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा नहीं होनी चाहिए। भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास में हम यज्ञों में प्रचलित जिस हिंसा का, जिस पशुवध का, वर्णन पाते हैं उसे सर्वथा वेद-विरुद्ध समझना चाहिए।

## ब्राह्मणों को संयमी होना चाहिए

वेद का स्वाध्याय करते हुए हमारा ब्राह्मण के गुणों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में एक इस बात की ओर भी ध्यान जाता है कि ब्राह्मण को संयमी होना चाहिए। इस विषय में निम्न मन्त्र देखिए—

1. ब्राह्मणों युक्त आसीत्। ऋग्० 8.58.1.

[1] शंयोः शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्। निरु० 4.21।

2. ब्राह्मणा व्रतचारिणः । ऋग्० 7.103.1.

3. ब्राह्मणं देवबन्धुम् । अथ० 5.18.13.

इन मन्त्रखण्डों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ब्राह्मण को युक्त होना चाहिए ।

जिसने अपनी इंद्रियों को वश में करके संसार के सब विषयों से रोक कर एकाग्र कर लिया है ऐसे व्यक्ति को युक्त कहते हैं । ब्राह्मणों को अपनी इन्द्रियों को वश में करके अपने आपको युक्त-संयमी बनाना चाहिए ।

(2) ब्राह्मण व्रतों का आचरण करने वाले होते हैं ।

ब्रह्मचर्यादि व्रतों को व्रत कहते हैं । इन ब्रह्मचर्यादि व्रतों में साधक को अपनी इंद्रियों को ही वश में, संयम में, करना होता है । ब्राह्मणों को इन व्रतों का पालन करके अपनी इन्द्रियों का संयम करना चाहिए ।

(3) ब्राह्मण अपनी इंद्रियों को बाँधकर रखने वाला (देवबन्धु) होता है ।

मन्त्र में ब्राह्मण को देवबन्धु कहा है । देव[1] का अर्थ इन्द्रियाँ भी होता है । देव शब्द वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ है । दिव्य शक्ति वाला होने के कारण इन्द्रियों को देव कहा जाता है । उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थानों पर प्राणों को देव कहा गया है । इन ग्रन्थों के पाठक यह तो भली-भाँति जानते ही हैं कि इन ग्रन्थों में प्राण शब्द अनेक बार इन्द्रियों के अर्थ में प्रयुक्त होता है । देव प्राण हैं, प्राण इन्द्रियाँ हैं । इसलिए देव इन्द्रियाँ स्वयं हो जाते हैं । चक्षु आदि इन्द्रियों को सीधा भी देव इन ग्रन्थों में कई स्थानों पर कहा गया है । बन्धु[2] का अर्थ बाँधने वाला होता है । बन्धु लोगों को बन्धु इसीलिए कहते हैं कि वे अपने प्रेम से बाँधकर रखते हैं । जो देव अर्थात् अपनी इन्द्रियों को बाँधकर रखे उसे देवबन्धु कहेंगे । ब्राह्मण को देवबन्धु होना चाहिए । उसे अपनी इन्द्रियों को बाँधकर रखना चाहिए । उन्हें विषयों में न जाने देकर अपने वश में रखना चाहिए—उनका संयम करना चाहिए । ब्राह्मण के इस देवबन्धु विशेषण के और भाव भी होंगे । परन्तु इसका एक भाव यह भी अवश्य होगा जो यहाँ दिखाया गया है ।

## ब्राह्मणों को सत्य-परायण होना चाहिए

वेद का अध्ययन करते हुए पाठक का ब्राह्मणों के जिस एक और गुण की

[1] प्राणा देवाः । शत० 6.3.1.15 ; शत० 7.5.1.21 ; चक्षुर्देवः । गो० पू० 2.10 ; मनो देवः । गो० पू० 2.10 ; वाग्देवः । गो० पू० 2.10 । प्राणाश्च पुनः—सप्त शीर्षन् प्राणाः । शत० 9.5.2.8 ; सप्त शिरसि प्राणाः । तां० 2.14.2 ।

[2] बध्नातीति बन्धुः । उणा० 1.10 ।

ओर स्वभावतः ध्यान जाता है वह है सत्य-परायणता। ब्राह्मणों को सत्य की उपासना का जीवन व्यतीत करना चाहिए। उन्हें असत्य से सर्वथा परे रहना चाहिए। इस प्रकार के भाव वेद में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए निम्न कुछ मन्त्र देखिए—

1. ऋतधीतिं बृहस्पतिम्। ऋग्० 10.47.6.
2. ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि। ऋग्० 2.23.3.
3. असि सत्य ब्रह्मणस्पत। ऋग्० 2.23.11.
4. बृहस्पते ऋतप्रजात। ऋग्० 2.23.15.
5. ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
   तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः॥
   ऋग्० 2.24.8.
6. बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
   ऋग्० 4.50.3.
7. प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिः। ऋग्० 6.73.1.
8. आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
   ऋग्० 10.68.4.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ऋत अर्थात् सत्य की धीति—धारण—है जिसमें ऐसा ब्राह्मण (बृहस्पति) होता है।

(2) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम ऋत के ज्योतिष्मान् रथ में बैठते हो।

सत्य का जीवन ज्योति का जीवन है। असत्य का जीवन अन्धकार का जीवन है। सत्य का जीवन व्यतीत करना मानो ज्योति के रथ में बैठकर चलना है। और असत्य का जीवन मानो अन्धकार के छकड़े में चढ़कर चलना है। ब्राह्मण लोग सदा ज्योति के रथ में बैठकर चलते हैं।

(3) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम सत्य रूप (सत्यः) हो।

सदा सत्य का जीवन व्यतीत करने के कारण मन्त्र में ब्राह्मण को सत्य रूप, सत्य ही, कह दिया है। ब्राह्मण को सत्य-रूपता का जीवन सदा बिताना चाहिए।

(4) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) तुम ऋत-प्रजात हो।

जिससे ऋत अर्थात् सत्य उत्पन्न होता हो उसे ऋत-प्रजात कहते हैं। ब्राह्मण ऋत-प्रजात होता है। उसके जीवन से सत्य प्रादुर्भूत होता है। राष्ट्र में सत्य की धाराएँ ब्राह्मणों के जीवन से ही प्रवाहित होती हैं।

## ब्राह्मण का धनुष और उसकी विजय-यात्रा

(5) (ब्रह्मणस्पतिः) ब्राह्मण (यत्र) जहाँ (वष्टि) चाहता है (तत्) उसी स्थान को अपने (ऋतज्येन) सत्य की प्रत्यञ्चा वाले (क्षिप्रेण) शीघ्रता से बाणों को फेंकने वाले (धन्वना) धनुष से (अश्नोति) प्राप्त कर लेता है (तस्य) उस ब्राह्मण के (इषवः) बाण (साध्वीः) कार्य को उत्तमता से सिद्ध करने वाले हैं, (नृचक्षसः) मनुष्यों के पहिचानने वाले हैं (कर्णयोनयः)[1] कान उनका स्थान है अर्थात् कान के मार्ग से उनका प्रहार किया जाता है, (याभिः) जिन बाणों के द्वारा, वह ब्राह्मण (दृशये) सम्यक् दर्शन के, सम्यक् ज्ञान के लिए (अस्यति) प्रहार करता है।

ब्राह्मण के पास एक धनुष है। उसके द्वारा वह जिस प्रदेश को चाहता है विजय कर लेता है। परन्तु ब्राह्मण का यह धनुष क्षत्रियों के धनुष से निराला है। क्षत्रियों के धनुष की तरह ब्राह्मण का यह धनुष लोहे आदि धातुओं का बना नहीं होता और इसकी प्रत्यञ्चा, इसकी डोरी, किसी तांत आदि पदार्थ की बनी नहीं होती है। ब्राह्मण के इस धनुष की प्रत्यञ्चा सत्य की बनी होती है। मन्त्र में केवल धनुष की प्रत्यञ्चा के विषय में कह दिया गया है कि वह सत्य का बना हो। इससे उसकी रचना के और अंगों की कल्पना स्वयं ही कर लेनी चाहिए। मन्त्र में जिस प्रकार का वर्णन है उसके आधार पर हम ब्राह्मण में मनुष्य मात्र के कल्याण की कामना से सर्वत्र ज्ञान का प्रचार करने की जो भावना है वह उसके धनुष का धनुर्दण्ड है ऐसा कह सकते हैं। ज्ञान का प्रचार इस धनुष पर से छोड़े जाने वाले बाण हैं। सत्य की वृत्ति को इसकी प्रत्यञ्चा मन्त्र में कहा गया है। ब्राह्मण अपने इस धनुष और इन बाणों के द्वारा जो प्रदेशों के पीछे प्रदेशों की विजय करता-फिरता है उसका उद्देश्य भी मन्त्र में स्पष्ट कह दिया गया है। ब्राह्मण की इस दिग्विजय का उद्देश्य है—दृशि—दर्शन। लोगों को दर्शन देने की कामना से, उन्हें आँखें देने की इच्छा से, उन्हें ज्ञान और समझ देने की अभिलाषा से ब्राह्मण अपनी विजय यात्रा पर निकलता है।

मन्त्र में ब्राह्मण के धनुष का एक विशेष 'क्षिप्र' दिया गया है। क्षिप्र का एक अर्थ शीघ्रकारी होता है। दूसरा इसका अर्थ फेंकने वाला होता है। हमने दोनों अर्थों को ध्यान में रखकर इसका शब्दार्थ 'शीघ्रता से बाणों को फेंकने वाला' ऐसा कर दिया है। ब्राह्मण के सत्य की प्रत्यञ्चा वाले धनुष का यह क्षिप्र विशेषण कार्य-सिद्धि के लिए एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात की सूचना देता है। वह यह है कि जो ब्राह्मण अपने उद्देश्य में शीघ्र सफलता चाहते हैं उन्हें सत्य के धनुष को हाथ में लेकर काम करना चाहिए। सत्य का सहारा लेने पर उनके काम बहुत शीघ्रता से सफल होंगे। बिना

[1] श्रोत्रेन्द्रियेण ग्राह्या इति सायणः।

सत्य का सहारा लिए उन्हें अपने कार्यों में सिद्धि नहीं मिल सकती।

मन्त्र में ब्राह्मण के इस सत्य की डोरी वाले धनुष के द्वारा छोड़े जाने वाले बाणों के भी कुछ विशेषण दिये गये हैं। पहले बाण के वाचक शब्द को ही देखिए। बाण को यहाँ 'इषु' शब्द से कहा गया है। यह शब्द गत्यर्थक ईष अथवा इष धातु से बनता है। क्योंकि बाण चलकर सीधा लक्ष्य पर जाकर लगता है इसलिए उसे इषु कहते हैं। यदि ब्राह्मण किसी प्रदेश के लोगों में जाकर प्रचार करना चाहता है तो उसे सीधा लक्ष्य पर पहुँचना होगा—उन लोगों के अन्दर जाकर सीधा उन्हें अपनी बातें सुनानी होंगी। दूर-दूर रहकर वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। उसे लोगों में घँसकर उनके साथ घुलमिल जाना होगा—उनके साथ गहरी समीपता पैदा करनी होगी। तभी वह सफल हो सकेगा। बाण का एक विशेषण मन्त्र में 'साध्वी:' दिया गया है। साध्वी शब्द के दो अर्थ होते हैं : एक उत्तम, भला और दूसरा कार्य का साधक। इन दोनों भावों को लेकर हमने इसका शब्दार्थ 'उत्तमता से कार्य को सिद्ध करने वाले' ऐसा कर दिया है। जो ब्राह्मण अपने प्रचार आदि के कार्यों में सफलता चाहते हैं उन्हें उत्तम उपायों का—भले साधनों का—प्रयोग करना चाहिए। कुत्सित साधनों का—बुरे तरीकों का—अवलम्बन करने पर उसे सफलता न मिलेगी। असाधु उपायों से ब्राह्मण को सिद्धि न मिल सकेगी। बाण का एक दूसरा विशेषण मन्त्र में 'नृचक्षस:' दिया गया है। नृचक्षस: का शब्दार्थ होता है मनुष्यों को देखने वाले—मनुष्यों को पहिचानने वाले। बाण के इस विशेषण द्वारा ब्राह्मण को एक और उपदेश दिया गया है। वह यह है कि यदि ब्राह्मण अपने प्रचार आदि के कार्यों में सफलता चाहता है तो उसे आदमियों को पहचानने वाला होना चाहिए। ब्राह्मण जिन लोगों में प्रचार करना चाहता है वे किस स्वभाव के लोग हैं, उनकी प्रवृत्तियाँ कैसी हैं, उनका रहन-सहन, खाना-पीना, उनके रीति-रिवाज किस प्रकार के हैं, उनकी रुचियाँ और अरुचियाँ किस तरह की हैं, इत्यादि सब बातों का उसे ज्ञान होना चाहिए। एक शब्द में, उसे उन लोगों को पूरी तरह समझने वाला होना चाहिए। इस प्रकार का नृचक्षा: हुए बिना ब्राह्मण को अपने उद्देश्यों में सफलता नहीं मिल सकेगी। तीसरा विशेषण 'कर्णयोनय:' दिया गया है। इसका शब्दार्थ है—कान जिनके योनि अर्थात् स्थान हैं। अर्थात् जो कानों पर जाकर लगते हैं। ब्राह्मण जिन लोगों के काम करना चाहता है उसे उनके कानों तक पहुँचना चाहिए। उसे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे लोग उसके पास आकर उसकी बातों को कान देकर सुन सकें। यदि लोग उसकी बातों को किसी भी कारण से कान देकर नहीं सुनते हैं तो उसका सब कहना उसकी सारी व्याख्यान कला व्यर्थ हो जायेंगे। यदि ब्राह्मण इन बातों को ध्यान में रखता हुआ सत्य का धनुष हाथ में लेकर विजय यात्रा के लिए निकलेगा तो वह

देशों के पीछे देश जीतता चला जायेगा।

(6) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) जो दूर से दूर की स्थिति (परमा परावदत) है वहाँ से आकर तुम्हारे सत्य से स्पर्श रखने वाले (ऋतस्पृशः) अर्थात् सत्ययुक्त व्यवहार लोगों में बैठते हैं अर्थात् लोगों के आचरण को प्रभावित करते हैं।

ब्राह्मण जब लोगों के साथ सम्बन्ध में आता है तो वह उनके साथ सत्ययुक्त व्यवहार ही करता है। ब्राह्मण में यह जो सत्ययुक्त व्यवहार की वृत्ति आती है वह बहुत दूर स्थान से अर्थात् हृदय से आती है। ब्राह्मण के सत्ययुक्त व्यवहार ऊपर-ऊपर के नहीं होते, उनकी जड़ बहुत गहरी होती है, उनका सम्बन्ध हृदय से होता है। इसीलिए उनमें किसी प्रकार की बनावट नहीं होती। उनकी यह स्वाभाविकता लोगों पर प्रभाव डालती है। जिसका परिणाम यह होता है कि वे लोगों के दिलों में बैठ जाते हैं—उनके हृदयों में उनका स्थान हो जाता है।

(7) ब्राह्मण (बृहस्पतिः) सबसे पहला (प्रथमजा) सत्य का रक्षक (ऋतावा) है।

ब्राह्मण सत्य का रक्षक है। उसका सबसे पहला काम सत्य की रक्षा करना है। और लोग सत्य की रक्षा करें या न करें, पर ब्राह्मण को तो सत्य की रक्षा सबसे पहले करनी है।

(8) (मधुन) मधु से (आप्रुषायन्) जगत् को सींचता हुआ (बृहस्पतिः) ब्राह्मण (ऋतस्य) सत्य के (योनिं) कारण को (अवक्षिपन्) लोगों पर गिरा देता है। (इव) जिस प्रकार (द्यौः) द्युलोक (उल्कां) उल्का को गिरा देता है।

ब्राह्मण सारी धरती को मधु से सींचना चाहता है। वह सब लोगों के जीवनों को मिठास से भरना चाहता है। इस उद्देश्य से वह लोगों में सत्य का संचार करता है। परन्तु सत्य का संचार जीवन में बिना सत्य के ज्ञान के नहीं हो सकता। सम्यक् ज्ञान, सही ज्ञान, सत्य के आचरण का कारण है। इसलिए ब्राह्मण सत्य आचरण के कारण सत्य ज्ञान को लोगों में फैलाता है। जब लोगों को सत्य ज्ञान हो जायेगा तो उनका आचरण भी सत्य हो जायेगा। और आचरण में, जीवन में, सत्य आ जाने पर सारा जीवन मधुमय—मिठास से भरा हुआ—हो जायेगा।

वेद के इन और ऐसे ही अन्य वर्णनों से यह असंदिग्ध रूप में सूचित होता है कि ब्राह्मणों को सत्य-परायण होना चाहिए।

## ब्राह्मणों को मधुर-भाषी होना चाहिए

ब्राह्मणों के गुणों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में वेद का स्वाध्याय करते हुए एक और बात जिसकी ओर पाठक का ध्यान अनायास ही जाता है यह है कि ब्राह्मण को मधुर-भाषी होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अग्रांकित मन्त्र देखने योग्य हैं—

1. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । ऋग्० 1.40.3.
2. मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिम् । ऋग्० 1.190.1.
3. अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत् ।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥ ऋग्० 2.24.4.
4. पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् । ऋग्० 4.50.1.
5. आप्रुषायन् मधुन । ऋग्० 10.68.4.

इनका शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पतिः) हमारे पास आवे और उसके कारण सत्य और मधुर वाणी (सूनृता) हमारे पास आवे ।

ब्राह्मण सत्य और मधुर वाणी का स्वामी होता है । उनकी संगति से दूसरे लोगों में भी सत्य और मधुर वाणी आ जाती है ।

(2) ब्राह्मण (बृहस्पति) मनोमोहक वाणी वाला (मन्द्रजिह्वम्)[1] होता है ।

ब्राह्मण अपनी मस्त कर देने वाली मधुर वाणी से सबके चित्तों को अपने वश में कर लेता है ।

(3) (ब्रह्मणस्पतिः) ब्राह्मण (मधुधारं) मधु की धारा वाले (अश्मास्यं)[2] विस्तृत और निरन्तर बहने वाले (यं) जिस (अवतं) झरने को (ओजसा) अपने बल से (अभ्यतृणत्) खोदता है (तम्) उसको (एव) ही (विश्वे) सब (स्वर्दृशः) सुख को देखने अर्थात् चाहने वाले लोग (पपिरे) पीते हैं, [पुनः वे सब लोग] (उद्रिणम्)[3] मधुर जल वाले (उत्सं) उस झरने को (साकं) एक साथ मिलकर (सिसिचुः) सींचते हैं—भरते हैं ।

ब्राह्मण अपने उपदेशों द्वारा मधुरता का एक झरना बहा देता है । यह झरना निरन्तर बहता रहता है और फैलता रहता है । सुख चाहने वाले लोग उस झरने के मधु-रस का खूब पान करते हैं । इसका पान करने से उनकी यह अवस्था हो जाती है कि उनके हृदयों में भी मधुरता का सरोवर उत्पन्न हो जाता है । और वे अपने आचरणों और वचनों द्वारा माधुर्य-जल को बहाने लगते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि ब्राह्मण ने जो मधुरता का झरना बहाया था वह और अधिक भर जाता है ।

(4) मधुर वाणी वाले (मन्द्रजिह्वम्) उस ब्राह्मण को (बृहस्पतिम्) ज्ञानी लोग आगे रखते हैं ।

[1] मादकवाचमिति सायणः ।
[2] अशनवन्तमास्यन्दनवन्तमिति यास्कः । निरु० 10.13 ।
व्यापनवन्तमासेचनवन्तमिति तस्यार्थ इति सायणः ।
[3] उदकवन्तमिति सायणः । मानसं वाचिकं च मध्वन्नोदक पदेनोच्यते ।

(5) ब्राह्मण (बृहस्पति) मधु से (मधुना) सबको सींचता है ।

ब्राह्मण में मधु होता है । वह अपने उपदेशों द्वारा सब धरती को उस मधु से सींचता फिरता है ।

इन और ऐसे ही अन्य ब्राह्मण-विषयक वेद के वर्णनों से यह सन्देह रहित रीति से सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों को मधुर-भाषी होना चाहिए ।

## ब्राह्मणों को तपस्वी होना चाहिए

ब्राह्मणों को तपस्वी होना चाहिए एक यह बात भी ब्राह्मणों के गुणों के सम्बन्ध में वेद का अध्ययन करते हुए अनेक स्थानों पर वर्णित हुई मिलती है । उदाहरण के लिए निम्न वेदमन्त्रों को देखिए—

1. ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान्‥‥जोहवीमि । अथ० 11.1.26.
2. तपुर्मूर्धा । ऋग्० 10.182.3.
3. अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् । अथ० 5.18.9.

अर्थात्—(1) जो ज्ञानी है, ज्ञानियों से सम्बन्ध रखते हैं और ज्ञानियों में प्रसिद्ध हैं, जो तप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसे ब्राह्मणों को मैं बुलाता हूँ । (2) ब्राह्मण (बृहस्पति) तपु अर्थात् तप करने वाला है, मूर्धा अर्थात् सिर जिसका ऐसा होता है । (3) ब्राह्मण लोग तप और सात्त्विक क्रोध (मन्यु) से पीछा करके (अनुहाय) शत्रु को दूर से ही छेद डालते हैं ।

ब्राह्मण तप से उत्पन्न होते हैं । उनका सिर, उनका मस्तिष्क, सदा तप में निरत रहता है । तपस्या का जीवन बिताने के विचार ही सदा उनके मस्तक में रहते हैं । तप का अर्थ होता है धर्म के लिए सदा कष्ट सहने के लिए तैयार रहना । धर्म को, कर्तव्य पालन को, नहीं छोड़ा जायेगा, ऐसा करने में कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें । कष्ट सहकर भी कर्तव्य-पालन करने के जीवन को तप का जीवन कहते हैं । पर हमारा जीवन इस प्रकार का नहीं बन सकता यदि हमने अपने साधारण प्रतिदिन के जीवन में कष्ट सहने और सादा रहने का अभ्यास नहीं डाल रखा है । इसलिए कष्ट सहने और सादा रहने के अभ्यासी जीवन को भी तप का जीवन कह देते हैं । इसलिए तप का अर्थ हो जाता है कष्ट सहने और सादा रहने के अभ्यासी जीवन बनाकर रखना जिससे आवश्यकता पड़ने पर धर्म के पालन में यदि कष्ट सहने पड़ें तो सहे जा सकें । ब्राह्मण लोग इस प्रकार के तपोमय जीवन के धनी लोग होते हैं । उनका सारा जीवन तपस्या का जीवन रहता है । इस तपस्या के बल पर वे अपने सब शत्रुओं को जीत लेते हैं । उनकी तपस्या किसी विरोधी को खड़ा नहीं रहने देती ।

वेद के इस प्रकार के वर्णनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों को सदा तपस्वी रहना चाहिए।

## ब्राह्मणों को मेधावी होना चाहिए

ऊपर हम देख चुके हैं कि ब्राह्मणों को भाँति-भाँति की विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए। परन्तु विविध विद्याओं का ज्ञाता होना भी ब्राह्मण के लिए पर्याप्त नहीं है। विविध विद्या-विज्ञानों की विद्वत्ता के साथ उनमें स्वाभाविक बुद्धि भी होनी चाहिए। ब्राह्मणों में स्वाभाविक बुद्धि भी होनी चाहिए यह हमें वेद का अध्ययन करते हुए अनेक स्थलों में स्पष्ट रूप में देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. सुमेधां बृहस्पतिम्। ऋग्० 10.47.6.
2. बृहस्पतिं सुमेधसम्। ऋग्० 10.65.10.

इन दोनों मन्त्रों में ब्राह्मण (बृहस्पति) को सुमेधाः कहा गया है। मेधा धारणावती उत्कृष्ट बुद्धि को कहते हैं। जिसमें उत्तम मेधा हो, वह सुमेधा कहलायेगा। ब्राह्मणों में उत्तम मेधा शक्ति होनी चाहिए। उनमें उत्कृष्ट बुद्धि-शक्ति होनी चाहिए। यह इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों से स्पष्ट प्रकट होता है।

## ब्राह्मणों को तेजस्वी होना चाहिए

ब्राह्मणों को तेजस्वी होना चाहिए यह भी वेद के अनेक स्थलों का अध्ययन करते हुए स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्रों को देखिए—

1. ब्राह्मणासः····घर्मिणः। ऋग्० 7.103.8.
2. त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या। अथ० 6.38.1.
3. बृहस्पतिं····आ दीदिवांसं हिरण्यवर्णम् सपेम। ऋग्० 5.43.12.
4. तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप। ऋग्० 2.23.14.

अर्थात्—(1) ब्राह्मण लोग धर्म अर्थात् तेज वाले होते हैं। (2) जो तेज (त्विषि) अग्नि में, ब्राह्मण में और सूर्य में होता है। (3) जो तेज से दीप्त हो रहा है (आदीदिवांसं) जिसकी कान्ति सुवर्ण की तरह हितकारी और रमणीय है (हिरण्यवर्णम्) ऐसे ब्राह्मण की (बृहस्पतिं) परिचर्या करते हैं (सपेम)। (4) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) तुम अपनी अति तेजस्विनी (तेजिष्ठया) तापकारिणी शक्ति से (तपनी) राक्षस पुरुषों को तपाओ।

ब्राह्मण में तेज होना चाहिए। जैसा तेज अग्नि, सूर्य और सुवर्ण में होता है वैसा तेज ब्राह्मण में होना चाहिए। उसके तेज के आगे दुष्ट वृत्ति के राक्षस लोग न

खड़े रह सकें ऐसा तेज उसमें होना चाहिए। उसमें शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का तेज रहना चाहिए। पुरुष में दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकने की जो शक्ति होती है—दूसरों को अपना व्यक्तित्व अनुभव करा सकने की जो शक्ति होती है—उसे तेज कहते हैं। तेजस्वी पुरुषों के शरीर और मन दोनों में यह शक्ति होती है। जिनमें यह तेज शक्ति होती है उन्हें कोई दबा नहीं सकता, ब्राह्मणों को ऐसा दुर्धर्ष तेजस्वी होना चाहिए कि उन्हें कोई दबा न सके।

## ब्राह्मणों का शरीर बलिष्ठ होना चाहिए

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 40वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र में ब्रह्मणस्पति को 'सहसस्पुत्र' कहा है। 'सहः' बल को कहते हैं। पुत्र शब्द का प्रयोग अतिशय को बताने के लिए हुआ है। सहसस्पुत्र का शब्दार्थ होता है—बल का पुत्र। जो बल का पुत्र होगा वह स्वयं अति बली होगा। इसलिए सहसस्पुत्र का सीधा अर्थ हो जाता है—अतिशय बलवान्। ब्रह्मणस्पति के इस विशेषण से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि ब्राह्मणों के शरीर में खूब बल होना चाहिए। मन और आत्मा की तरह ही उनका शरीर भी खूब बलिष्ठ होना चाहिए। दुर्बल शरीर में मस्तिष्क भी दुर्बल हो जाता है। और दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति अपने कार्य भी अच्छी तरह नहीं कर सकता। इसलिए ब्राह्मणों को अपने शरीर को भी बलिष्ठ बनाना चाहिए।

## ब्राह्मणों को सरल स्वभाव का होना चाहिए

ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में ब्राह्मण को ऋजु कहा है—

ऋजुरिच्छंसो वनवद् वनुष्यतः।

ऋग्० 2.26.1.

इस मन्त्रखण्ड का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(शंसः) उत्तम बातों का शंसन अर्थात् उपदेश करने वाला (ब्रह्मणस्पतिः) ब्राह्मण (ऋजुः) कपटरहित सरल रहता हुआ (इत्) ही (वनुष्यतः) हिंसा करने वाले शत्रुओं की (वनवत्) हिंसा कर देता है।

मन्त्र में ब्रह्मणस्पति पद नहीं आया है। सारे सूक्त में ब्रह्मणस्पति का वर्णन है। इसलिए प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ करते हुए ब्रह्मणस्पति पद का अध्याहर कर लेना होता है। वेद-विद्या का अधिपति ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) 'शंस' होता है—वह सदा ही लोगों के आगे उत्तम बातों का शंसन करता है। उन्हें सदा ही भली बातों का उपदेश करता है। कई लोग उसके सत्योपदेशों से चिढ़कर उसके साथ कुटिलता का, धूर्तता का, व्यवहार करने लगते हैं। और इस प्रकार कुटिलता का सहारा लेकर वे उसकी

हिंसा करना चाहते हैं—उसे कष्ट देना चाहते हैं। ब्राह्मण उनकी कुटिलता के सामने भी कुटिलता ग्रहण नहीं करता। वह ऋजु ही रहता है—सरल, कुटिलतारहित ही रहता है। वह अपने ऋजु—सरल, कुटिलतारहित—व्यवहार से अपने हिंसकों को, कष्ट पहुँचाने की इच्छा वाले विरोधियों को, जीत लेता है।

मन्त्र में ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) के लिए प्रयुक्त इस ऋजु विशेषण से यह स्पष्ट सूचित होता है कि ब्राह्मणों का जीवन सदा ऋजुता का, सरलता का, कुटिलता-हीनता का, होना चाहिए।

## ब्राह्मणों को अहिंसा-परायण होना चाहिए

वेद के अध्ययन से ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक यह बात ज्ञात होती है कि उन्हें अहिंसा-परायण होना चाहिए। उन्हें कभी किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिए। जो लोग उनके साथ द्वेष करें उन्हें भी अपने प्रेम और उस प्रकार के जीवन से ही ब्राह्मणों को जीतना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्रों को देखिए—

1. बृहस्पतिम्····अरुषम्। ऋग्० 5.43.12.
2. अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं। ऋग्० 1.190.1.
3. बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम। ऋग्० 7.97.5.
4. बृहस्पते चयस इत् पियारुम्। ऋग्० 1.190.5.
5. असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद् दमिता वीळुहर्षिणः। ऋग्० 2.23.11.
6. विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत् साम्नः साम्नः कवि।
 स ऋणचिद्दणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि॥ ऋग्० 2.23.17.
7. बृहस्पतिः····पुनर्नेषदघशंसाय मन्म। ऋग्० 10.182.1.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ब्राह्मण (बृहस्पति) अहिंसक (अरुषम्)[1] होता है। (2) ब्राह्मण (बृहस्पति) अहिंसक (अनवा)[2] होता है, मंगलों की वर्षा करने वाला होता है, मधुर वाणी बोलने वाला होता है। (3) ब्राह्मण (बृहस्पति) जोकि अहिंसक (अनवा) है उसे हम बुलाते हैं। (4) हे ब्राह्मण (बृहस्पते) जो हिंसक (पियारुं)[3] है उसके पास भी

[1] रुष हिंसायाम्। रोषतीति रुट्। न रुट् अरुट् तं अरुषमहिंसकम्।

[2] अर्व हिंसायाम्। अर्वति हिनस्तीति अर्वा। अन्येभ्यो पि दृश्यते इति वनिप्। न अर्वा अनर्वा तमनर्वाणम् अहिंसकम्।

[3] पियारुं हिंसक पीयतेर्हिंसाकर्मण इदं रुपमिति सायणः।

तुम उस पर कृपा करने के लिए पहुँचते हो (चयसे)[1] । (5) (ब्रह्मणस्पते) हे ब्राह्मण तुम सदा (सत्यः) सत्य युक्त (असि) रहते हो (वोळ्हुर्षिणः) दृढ़ता के कामों में हर्ष मनाने वाले (उग्रस्य) उग्र कर्म करने वाले पुरुष का (चित्) भी (ऋणया)[2] अपने उपकारों के ऋण से (दमिता) दमन करने वाले हों।

जो लोग सदा दृढ़ता के, कठोरता के, कामों में, हर्ष मनाते हैं—सबके साथ सदा कठोरता और क्रूरता का ही आचरण करते हैं ऐसे उग्र कर्मकारी ही लोगों को भी ब्राह्मण अपने ऋण से—अपने उपकारों से दमन कर देता है। अपने-उग्र कर्मा विरोधी को भी उसके साथ उपकार करके—उस पर उपकारों का ऋण चढ़ाकर—उसके चित्त में परिवर्तन लाकर ब्राह्मण शान्त कर देता है। क्योंकि ब्राह्मण जैसाकि ऊपर के मन्त्रों में कहा गया है अहिंसक है इसलिए वह अपने शत्रुओं पर क्रोध नहीं करता। वह ऊपर उद्धृत ऋग्० 1.190.5 मन्त्र के अनुसार अपने को कष्ट पहुँचाने वाले शत्रुओं के पास भी उन पर कृपा करने के लिए पहुँच जाता है। इस प्रकार विरोधियों के साथ भी निरन्तर उपकार करते रहने का परिणाम यह होता है कि एक समय आता है जबकि वे विरोधी उसके विरोधी नहीं रहते।

## ब्राह्मण का शत्रुओं को जीतने का निराला प्रकार और उसकी रचना का उपादान साम तत्त्व

(6) हे ब्राह्मण (कविः) क्रान्तदर्शी ज्ञानी (त्वष्टा) सबको बनाने वाले परमात्मा ने (विश्वेभ्यः) सब (भुवनेभ्यः) लोकों (परि) से (साम्नः साम्नः) सारे साम को लेकर उससे (त्वा) तुझको (अजनत्) उत्पन्न किया है (सः) वह (ब्रह्मणस्पतिः) तू ब्राह्मण (ऋणचित्) ऋणों को चिन देने वाला है—उपकारों का ढेर लगा देने वाला है (ऋणया) अपने अपकारों के ऋण से (द्रुहः) द्रोह करने वाले विरोधी का (हन्ता) मारने वाला है (महः) महान् (ऋतस्य) सत्य के (धर्तरि) धारण करने वाले परमात्मा में [तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ लगी रहती हैं]।

सत्य महान् है। उस महान् सत्य का सबसे बड़ा धारण करने वाला परमात्मा है। ब्राह्मण की चित्तवृत्ति सदा सत्य के महान् धारण करने वाले परमात्मा में लगी रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि ब्राह्मण को भी सत्य से प्रेम हो जाता है। वह भी अपने भीतर सत्य को धारण कर लेता है। जब उसकी वृत्तियों के एकमात्र आधार परमात्मा सत्य के धर्ता हैं तो उसका भी सत्य का धर्ता होना नितान्त आवश्यक है। भगवान् के प्रेमी में भगवान् के गुण आकर ही रहेंगे। जब ब्राह्मण सत्य का धर्ता

1 चयसे गच्छस्येवानुग्रहीतुमिति सायणः। चय गतौ।

2 ऋणया ऋणेन। सुपां सुलुगिति विभक्तेर्या।

बन गया तो उसके तो मन, वचन और कर्म से सत्य ही प्रवाहित होगा। वह सत्य का स्वयं भी आचरण करेगा और लोगों को भी सत्य पर चलने की प्रेरणा करेगा। वह लोगों को सच्ची बात, खरी बात, सुनायेगा। वह सत्य के प्रचार से टलेगा नहीं। उसकी सच्ची बातों को सुनकर बहुत से नासमझ लोग उसके विरोधी हो जायेंगे—उससे द्रोह और द्वेष करने लगेंगे। तरह-तरह से उसे कष्ट पहुँचाने लगेंगे। ब्राह्मण अपने इन द्रोहकर्ताओं को—अपने इन विरोधियों को मार देगा। उन्हें रहने नहीं देगा। परन्तु उसका अपने विरोधियों को मारने का प्रकार निराला है। वह स्वयं ऋणचित् है। लोगों पर अपने उपकार के ऋणों की ढेरियाँ लगा देने वाला है—उन्हें अपने उपकारों के मार से दबा देने वाला है। इसलिए वह अपने विरोधियों पर भी—अपने से द्रोह करने वालों पर भी—उपकार के ऋण चढ़ा देता है। विरोधी उसका अपकार करते चले जाते हैं, वह बदले में उनके साथ उपकार करता चला जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक दिन उसके विरोधी सोचने के लिए बाधित हो जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि देखो इस आदमी को। हम इसका अपकार करते हैं। यह बदले में हमारा उपकार करता है। यह तो, जैसा हम समझ बैठे थे, बुरा आदमी प्रतीत नहीं होता। हमीं अब तक भूल में थे जो इसे बुरा समझ रहे थे। यह तो जो बातें कह रहा था सच्ची थीं और हमारे हित के लिए कही जा रही थीं। हमने इसकी बातों को सुनकर इसके साथ द्वेष करके बहुत बुरा किया। हमसे बहुत भूल हुई। ज्योंही उनके मन में इस प्रकार के विचार उठने लगते हैं उनके मन में पश्चात्ताप होता है। वे उसके साथ विरोध, द्रोह और बैर करना छोड़ देते हैं। वे अब उसके साथ प्रीति करने लगते हैं। जब ब्राह्मण के शत्रु उससे प्रीति करने लग गये तो उसके शत्रु तो आप मर गये। उसे रक्त की एक बूंद न गिरानी पड़ी और उसके शत्रुओं का संहार हो गया। इस निराली विधि से ब्राह्मण अपने शत्रुओं को मारता है।

भला ब्राह्मण में यह शक्ति कहा से आ गई कि लोग उसके साथ द्रोह करें, द्वेष करें, और वह उनके साथ उपकार करके उन पर ऋणों के ढेर लादता जाये? ब्राह्मण के इस विचित्र आचरण का कारण यह है कि उसके रचयिता परमात्मा ने उसकी रचना संसार के और सब प्राणियों से विचित्र प्रकार की है। और प्राणी तो हाड़, मांस और लहू से बनाये गये हैं पर ब्राह्मण को 'साम' से बनाया गया है। त्रिभुवन में जितना भी 'साम' तत्त्व था उसे परमात्मा ने एकत्र कर लिया और उससे ब्राह्मण की रचना की। 'साम' का एक अर्थ शान्ति होता है। संसार में जहाँ कहीं भी शान्ति का तत्त्व है, संसार के जिस पदार्थ में भी शान्ति देने का गुण पाया जाता है, वहीं से उसे भगवान् ने संग्रह किया और उससे ब्राह्मण की रचना की। साम का एक अर्थ संगीत भी होता है। ऋग्वेद के मन्त्रों को जब संगीत की रीति से गाया जाता है तो

वे साम कहलाने लगते हैं। संगीत में जो शान्ति और प्रेम का संचार कर देने की शक्ति है उसे प्रत्येक संगीत प्रेमी सहृदय जानता है। त्रिलोकी में जहाँ कहीं भी संगीत का तत्त्व है भगवान् ने उसका संग्रह किया और उससे ब्राह्मण की रचना की। साम का एक अर्थ वेद के मन्त्र, सम्पूर्ण वेद, भी किया जा सकता है। क्योंकि वेद के मन्त्रों को ही जब विशेष रीति से गाया जाता है तो वे साम हो जाते हैं। इसलिए संगीतारूढ़ सारे वेद को ही साम कहा जा सकता है। साम से प्रभु ने ब्राह्मण को बनाया है। वेद के मन्त्रों में जो ज्ञान भरा है उससे ब्राह्मण की रचना की गई है। वेद के एक-एक मन्त्र में जो ज्ञान पाया जाता है उसे ब्राह्मण सीखता है और उसके अनुसार अपना क्रियात्मक जीवन ढालता है। तब जाकर कहीं ब्राह्मण बनता है। वेद के गम्भीर अध्ययन और तदनुकूल आचरण से ब्राह्मण को अनुभव हो जाता है कि जो उसके शत्रु हैं वे वास्तव में शत्रु नहीं हैं। वे उससे इसलिए शत्रुता नहीं करते कि वे उससे शत्रुता करना चाहते हैं। वे उससे इसलिए शत्रुता करते हैं कि वे नासमझ हैं। उन्हें वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो सका है। उन्होंने स्थिति को पूरी तरह समझा नहीं है। यदि वे वस्तुस्थिति को पूरी तरह समझ गये होते तो वे उससे कभी शत्रुता न करते। उसे बोध हो जाता है कि शत्रुता का असली कारण आदमी का बुरा होना नहीं है, उसका असली कारण वस्तुस्थिति को पूरी तरह समझ न पाना है। भला जो नासमझ हैं और इसीलिए हमसे द्वेष करते हैं उससे द्वेष कैसा? उनके साथ तो प्रेम रखके उनके हृदयों के समीप पहुँचना होगा। और उनके हृदयों के समीप पहुँच कर उनका अज्ञान दूर करना होगा। जब उनका अज्ञान दूर हो जायेगा तो ब्राह्मण के शत्रु आप ही द्वेष करना छोड़ देंगे। वेद के अध्ययन से प्राप्त होने वाले इस प्रकार के ज्ञान से ब्राह्मण की रचना हुई है। जो ब्राह्मण संसार भर के शान्ति-तत्त्व और संगीत-तत्त्व से बनाया गया है, जिस ब्राह्मण की रचना वेद के तत्त्व-ज्ञान से हुई है, उसके लिए अपने विरोधियों के साथ भी उपकार का, भलाई का, आचरण करना भला कौन बड़ी बात है?

ब्राह्मण की उत्पत्ति के इस आलंकारिक वर्णन से वेद ने अपने अलौकिक कवितामय ढंग से यह बता दिया है कि ब्राह्मण के जीवन का आदर्श क्या है, ब्राह्मण को अपना जीवन किस दिशा में ढालना चाहिए। पूर्ण अहिंसा-परायण होकर ब्राह्मण को अपने शत्रुओं को भी प्रेम और उपकार के द्वारा जीतना चाहिए। ब्राह्मण की विधि से प्राप्त की हुई शत्रुओं की विजय ही वास्तविक और पूर्ण विजय होती है। विजय के और सब प्रकार अधूरे हैं। और विधियों से जीता हुआ शत्रु जीता जाकर भी शत्रु ही रहता है। ब्राह्मण की विधि से जीता हुआ शत्रु जीता जाकर शत्रु नहीं रहता। वह मित्र बन जाता है।

(7) ब्राह्मण (बृहस्पति) को चाहिए कि वह उसके प्रति पाप की शंसना, पाप की इच्छा, करने वाले व्यक्ति के लिए (अघशंसाय) ज्ञान को (मन्त्रं) प्राप्त कराये (नेषत्) ।

जो लोग ब्राह्मण के साथ पाप करना चाहते हैं—उसके साथ अनिष्ट करना चाहते हैं—उनके पास जाकर ब्राह्मण को उन्हें ज्ञान सिखाना चाहिए । अज्ञानी लोग अज्ञान के कारण ही पाप करते हैं । जो ज्ञानी होता है वह पाप नहीं करता है । ब्राह्मण ने संसार से पाप को नष्ट करना है । उसके साथ होने वाले पाप को भी उसने नष्ट करना है और औरों के साथ होने वाले पाप को भी उसने नष्ट करना है । परन्तु पापियों से द्वेष करके उनसे अलग रहकर पाप नष्ट नहीं किया जा सकता । ब्राह्मण को पापियों के पास पहुँचना होगा । उनके पास पहुँच कर उन्हें ज्ञान देना होगा । उन्हें वस्तुस्थिति की वास्तविकता समझानी होगी । यह तभी हो सकता है जब पापियों से द्वेष न करके—प्रत्युत प्रेम का आश्रय लेकर—उनके पास पहुँचा जाये । ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह पापियों से भी प्रेम करे और उन्हें सही ज्ञान प्रदान करे जिससे वे पापकर्मों को छोड़ सकें ।

वेद के इन और ऐसे ही अन्य ब्राह्मण विषयक वर्णनों से यह निःसंदिग्ध रूप में सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों का जीवन अहिंसा-परायण होना चाहिए—उन्हें न केवल स्वयं ही किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिए प्रत्युत जो लोग उनके साथ विरोध करते हैं, उनसे द्वेष करते हैं, उनके साथ भी उन्हें प्रेम और भलाई का व्यवहार करना चाहिए ।

## ब्राह्मणों को सब प्रकार से पवित्र रहना चाहिए

वेद के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि ब्राह्मणों को सब प्रकार से पवित्र रहना चाहिए । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र-खण्ड देखिये—

1. शुचिक्रन्दं बृहस्पतिम् । ऋग्० 7.97.5
2. स हि शुचिः····स शुन्ध्युः····बृहस्पतिः । ऋग्० 7.97.7.

इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) ब्राह्मण (बृहस्पति) पवित्र शब्द वाला (शुचिक्रन्दं) है । (2) वह ब्राह्मण (बृहस्पति) पवित्र (शुचिः) और पवित्र बनाने वाला (शुन्ध्युः) है ।

ब्राह्मण के शब्द पवित्र होने चाहिए । उसे पवित्र भावना से पवित्र वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए । वाणी को और सब इन्द्रियों का भी उपलक्षण समझना चाहिए । ब्राह्मण को अपनी सभी इन्द्रियों का प्रयोग पवित्र भावना के साथ और पवित्र रीति से करना चाहिए । उद्धृत दूसरे मन्त्र में तो ब्राह्मण को ही शुचि अर्थात् पवित्र

कह दिया है। ब्राह्मण का सर्वस्व ही पवित्र होना चाहिए। उसका बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पवित्र होने चाहिए। उसका शरीर और उसके मन और आत्मा सभी पवित्र होने चाहिए। उसके साथ जड़ और चेतन जिन भी वस्तुओं का सम्बन्ध है वे सब पवित्र रहनी चाहिए। पूर्णता से पवित्र रहने वाला ब्राह्मण ही संसार को पवित्र करने वाला—शुन्ध्यु—बन सकता है। जो स्वयं पवित्र है वही औरों को पवित्र कर सकता है।

ब्राह्मण के इन विशेषणों से यह स्पष्ट है कि उसे सब प्रकार से पवित्र रहना चाहिए।

## ब्राह्मणों को जनता को सन्मार्ग पर चलाना चाहिए

ब्राह्मणों का एक कर्तव्य यह भी है कि वे जनता को सुनीति सिखाते रहें—उसे सन्मार्ग पर चलाते रहें। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

1. सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनम्। ऋग्० 2.23.4.
2. त्वं नो गोपाः पथिकृद् विचक्षणः। ऋग्० 2.23.6.
3. सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि। ऋग्० 2.23.7.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम जनता को (जनम्) सुनीतियों से (सुनीतिभिः) चलाते हो और उसकी रक्षा करते हो। (2) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम रक्षा करने वाले हो, मार्गों का निर्माण करने वाले (पथिकृत्) बड़े बुद्धिमान् हो। (3) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम हमारे लिए इस देव पुरुषों के योग्य सुख-भोग की प्राप्ति के लिए (देववीतये) गन्तव्य मार्ग को सुगम (सुगं) कर दो।

ब्राह्मण बड़ा विचक्षण होता है—प्रत्येक बात को समझने वाला बुद्धिमान् होता है। वह लोगों को उत्तम नीतियों की शिक्षा देता है। इससे लोगों का जीवन मार्ग सरल हो जाता है। लोग उत्तम नीति से परिष्कृत मार्ग पर सुखपूर्वक चलते हैं। उस पर चलने से उन्हें सब प्रकार के उत्तम सुखभोग—देव पुरुषों के योग्य सुख-सम्भार—प्राप्त होते हैं। दुःख और कष्टों से उनके जीवनों की रक्षा हो जाती है।

## ब्राह्मणों को जनता का भाँति-भाँति से मंगल करना चाहिए

ब्राह्मणों का यह भी कर्तव्य है कि वे भाँति-भाँति से प्रजाओं का मंगल करते रहें। इस विषय में वेद के निम्न मन्त्र देखिये—

1. यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। ऋग्० 1.18.2.
2. तमिद् वोचेमा विदथेषु शंभुवं। ऋग्० 1.40.6.

3. आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् । ऋग्० 2.23.1.

4. न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ।।
ऋग्० 2.23.5.

5. त्रातारं त्वा तनूनां हवामहे । ऋग्० 2.23.8.

6. त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि ।
या नो दूरे तळितो या अरातयो ऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः ।।
ऋग्० 2.23.9.

7. त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयः । ऋग्० 2.23.10.

8. सनिता धनंधनम् । ऋग्० 2.23.13.

9. विप्रो भरते मती धना । ऋग्० 2.24.13.

10. तोकं च तस्य तनयं वर्धते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।
ऋग्० 2.25.2.

11. सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे । ऋग्० 7.97.3.

12. देवेभ्य कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच ।।
अथ० 18.3.41.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) जो ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) रोगों को मारने वाला है (अमीवहा) जो धन प्राप्त करने वाला है और जो लोगों की पुष्टि को बढ़ाने वाला है। (2) जो सुखों को उत्पन्न करके देने वाला (शंभुवम्) है ऐसे उस ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) का ही हम ज्ञान-यज्ञों में (विदथेषु) बखान करें। (3) हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हुए हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) तुम अपनी रक्षाओं के साथ (ऊतिभिः) हमारे स्थानों में (सादनं) आकर बैठो। (4) हे (ब्रह्मणस्पते) ब्राह्मण (सुगोपाः) उत्तम रक्षा करने वाले तुम (यं) जिसकी (रक्षसि) रक्षा करते हो (तं) उसको (न) न (अंहः) रोग (न) न (दुरितं) पाप (कुतश्चन) कहीं से प्राप्त होता है, और (न) न उसको (अरातयः) शत्रु (तितिरुः)[1] मारते हैं (न) और न ही (द्वयाविनः) मन में कुछ और ऊपर से कुछ और, इस प्रकार दुहरा बरताव करने वाले छलिया लोग, उसे कहीं से प्राप्त होते हैं (अस्मात्) इस पुरुष से (विश्वाः) सारी (इत्) ही (ध्वरसः) हिंसक शक्तियों को (विबाधसे) रोककर परे कर देते हो। (5) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम हमारे शरीरों की रक्षा करने वाले हो तुम्हें हम बुलाते हैं। (6) (ब्रह्मणस्पते) हे ब्राह्मण (सुवृधा) अच्छी प्रकार लोगों की

[1] तिरतेर्हिंसाकर्मणः रूपम् ।

वृद्धि करने वाले (त्वया) तुम्हारे द्वारा (वयं) हम (मनुष्या) मनुष्य (स्पार्हा) चाहने योग्य (वसु) धनों को (आ ददीमहि) प्राप्त करें (याः) जो (नः) हमारे (दूरे) दूर (याः) जो (तळितः)[1] समीप (अरातयः) शत्रु (अभिसन्ति) हमारा पराभव करते हैं (ताः) उन (अनप्नसः) कर्महीन—बुरे कर्म करने वाले—शत्रुओं को (जम्भया) नष्ट कर दो। (7) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) उत्तम रीति से लोगों की वृद्धि करने वाले (सुवृधा) तुम्हारे द्वारा हम उत्तम आयु (वयः) को अथवा उत्तम अन्न (वयः) को धारण करते हैं। (8) हे ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पते) तुम प्रत्येक प्रकार के धन को (धनंधनं) देने वाले हो। (9) ज्ञानी ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) अपनी बुद्धि से (मती) धनों को धारण करता है। (10) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) जिस-जिस को अपना मित्र (युजं) बना लेता है उसके पुत्र (तनयं) और पौत्रा (तोकं) बढ़ते हैं। (11) मैं उत्तम सुख देने वाले (सुशेवं) ब्राह्मण (ब्रह्मणस्पति) की स्तुति करता हूँ (गृणीषे)[2]। (12) ब्राह्मण ने (देवेभ्यः) तत्त्वज्ञानी विद्वान् पुरुषों के लिए (कं) किस (मृत्युं) मृत्यु को (अवृणीत) वरण किया है ? अर्थात् किसी भी मृत्यु को नहीं वरण किया है (प्रजायै) प्रजा के लिए (किम्) किस (अमृतम्) अमृत को (न) नहीं (अवृणीत) वरण किया है ? अर्थात् सभी अमृतों को वरण किया है [मृत्यु को रोकने और अमृत को देने के लिए] (ऋषिः) अतीन्द्रियार्थों को भी जानने वाला (ब्रह्मणस्पतिः) ब्राह्मण (यज्ञं) यज्ञ का (अतनुत) विस्तार करता है [ब्राह्मण और उसके द्वारा विस्तारित यज्ञों द्वारा सबको अमृत पिलाये जाने पर भी] (यमः) सबको वश में रखने वाला परमात्मा (प्रियां) हमारे प्यारे शरीरों को (आरिरेच) जीवन से खाली कर देता है—हमें मार देता है।

ब्राह्मण अनेक प्रकार से लोगों को मंगल प्रदान करता है। वह लोगों के रोगों को दूर करता है। उनकी पुष्टियों को बढ़ाता है। अर्थात् उन्हें तरह-तरह से पुष्ट करता है। उनकी सुख-शान्ति की वृद्धि करता है। भाँति-भांति के उपायों से जनता की रक्षा करने के लिए उनके पास पहुँचता है। जनता में पाप नहीं फैलने देता और इस प्रकार पाप से—दुराचरण से—होने वाले रोगों से जनता की रक्षा करता है। हिंसक शत्रुओं और छलिया लोगों से लोगों को बचाता है। जितने प्रकार के भी कष्ट और हिंसाएँ लोगों को प्राप्त हो सकती हैं उन सबको वह रोककर उनसे दूर रखने की कोशिश करता है। जनता के शरीरों के स्वास्थ्य और नीरोगता की वह चिन्ता रखता है। जनता की सब प्रकार से उत्तम वृद्धि करना उसका उद्देश्य है और वह सदा इसे ध्यान में रखता है। लोगों को वह स्पृहा करने योग्य—चाहने योग्य—धन प्राप्त करने के उपाय बताता है। और इस विधि से वह लोगों को धन प्रदान करता

1 तडित इति अन्तिकनाम। निघ० 2.16.

2 गृणे स्तुवे इति सायणः।

है। वह दूर और समीप के शत्रुओं से प्रजा के लोगों को सावधान रखता है और उनसे बचने और उनको नष्ट करने के उपाय उन्हें बताता है। वह जनता को आयु बढ़ाने के उपाय बताता है। उत्तम अन्न प्राप्त करने और उसका उपभोग करने के ठीक साधनों का उपदेश जनता में करता है। एक-दो प्रकार के नहीं, जितने प्रकार के भी धन हो सकते हैं उन सबको प्राप्त करने के उपाय वह जनता को बताता है और इस भाँति वह सब प्रकार के धन जनता में बाँटता है। इस वाक्य (ऋग्० 2.23.13.) की यह भी ध्वनि निकल सकती है कि ब्राह्मण के पास अपना जितना भी धन होता है उसे वह आवश्यकता पड़ने पर लोगों में बाँट देता है। वह लोगों को मति अर्थात् विचारशील बुद्धि दे देता है जिससे लोग मनोवांछित धन प्राप्त कर लेते हैं। ब्राह्मण का जिसके साथ मेल हो जाता है उसके घर में पुत्र और पौत्र खूब बढ़ते हैं क्योंकि वह उत्तम सन्तानें बनाने की विद्या उसे बता देता है। ब्राह्मण सुशेव होता है, वह जनता को उत्तमोत्तम शिवों, सुखों और मंगलों का प्रदान करता रहता है। वह सदा ही प्रजा को कोई न कोई शिव--कल्याण—बाँटता रहता है।

उद्धृत अन्तिम मन्त्र (अथ० 18.3.41.) में ऊपर के मन्त्रों में कहे गये तथा वेद के अन्यत्र कहे गये ब्राह्मण द्वारा प्राप्त होने वाले सभी मंगलों की ओर सामान्य रीति से बड़े उत्तम शब्दों में निर्देश कर दिया गया है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में दो प्रश्न पूछे गये हैं और उन प्रश्नों के द्वारा ब्राह्मण के मंगल-प्रदान पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाल दिया गया है। देव पुरुषों के लिए ब्राह्मण ने कौन-सी मृत्यु का वरण किया है ? अर्थात् जो लोग ब्राह्मण के उपदेशों के अनुसार अपने जीवनों को ढालकर अपने आपको देव-पुरुष बना लेते हैं उनके लिए कोई भी मृत्यु नहीं रह जाती। ऐसे लोगों के लिए ब्राह्मण किसी भी मृत्यु का वरण नहीं कर सकता है। फिर दूसरे प्रश्न में पूछा है—प्रजा के लिए ब्राह्मण ने कौन-सा अमृत नहीं वरण किया है ? अर्थात् प्रजा के लिए ब्राह्मण तो सब अमृत ही अमृत वरण करता है। कोई भी अमृत ऐसा नहीं है कि जिसे ब्राह्मण प्रजा के लिए वरण करके न लाता हो। जिससे प्रजा के लोग देव बन जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार की मृत्यु—किसी प्रकार का कष्ट नहीं प्राप्त होता है, जिससे प्रजा को अमृत ही अमृत—सुख ही सुख—प्राप्त होता है। इसका उपाय भी मन्त्र के तीसरे चरण में कह दिया गया है। इस चरण में कहा है कि प्रजाओं को मृत्युओं से—कष्टों से—बचाने और उन्हें अमृत—सुख—पिलाने के लिए ब्राह्मण यज्ञ का विस्तार करता है। ब्राह्मण प्रजाओं के जीवन को यज्ञ का जीवन बना देता है। जिसका जीवन यज्ञीय जीवन बन गया उन्हें मृत्यु नहीं पकड़ सकती, वे तो सदा अमृत में निवास करते हैं। मन्त्र के अन्तिम चरण में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है। कहा है कि एक समय आता है जबकि यम—सबका नियन्ता परमात्मा—हमारे प्यारे

शरीरों को जीवन से खाली कर देता है। एक समय आता है जबकि हमारी आत्माओं को हमारे प्यारे शरीरों से अलग हो जाना पड़ता है, जबकि हमें मरना ही पड़ता है। इस आत्म-शरीर वियोग रूप मृत्यु से तो संसार का कोई भी प्राणी बच नहीं सकता है। इस मृत्यु के वश में तो सबको आना ही पड़ेगा। हमारे आत्मा और शरीर का कभी वियोग न हो तो इस प्रकार के अमृतत्व की—अमरपन की—तो कभी आशा ही नहीं करनी चाहिए। वेद के इसी आशय को ध्यान में रखकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में कहा है—'नामृतत्वस्याशास्ति, सर्वप्रायुरेति अस्तर्यो हैव भवति न हैनं पलस्तुतूर्यमाणश्च स्तृणुते।' (शत० 2.2.8.14.) अर्थात् 'अमृतत्व की आशा नहीं है, यही अमरपना है कि सारी आयु को प्राप्त करता है, अहिंसनीय हो जाता है, मारना चाहने वाला शत्रु उसे मार नहीं सकता।' इसलिए ब्राह्मण के उपदेशों के द्वारा अपने जीवन को यज्ञीय जीवन बनाकर प्रजाजन जो मृत्युओं से बच जाते हैं और अमृत को प्राप्त करते हैं उसका इतना ही भाव है कि यज्ञीय जीवन वाले प्रजा-जन सौ वर्ष की पूरी आयु प्राप्त करते हैं और सारी आयु भर उन्हें कोई कष्ट प्राप्त नहीं होता।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध के 'किस मृत्यु को वरण किया है ? और किस अमृत को वरण नहीं किया है ?' इन प्रश्नों में प्रयुक्त किस (कम्, किम्) शब्द की यह ध्वनि है कि वरण किये जाने वाले मृत्यु अनेक प्रकार के हैं। ब्राह्मण उनमें से किसी प्रकार की मृत्यु का भी वरण नहीं करता है और सब प्रकार के अमृतों का वरण करता है। प्रसिद्ध मृत्यु जो एक ही प्रकार का है। प्रसिद्ध मृत्यु तो यही है कि उसमें आत्मा और शरीर का वियोग हो जाता है। इसलिए यहाँ मृत्यु का भी प्रसिद्ध मृत्यु अर्थ नहीं हो सकता। यहाँ मृत्यु का अर्थ भाँति-भाँति के कष्ट करना पड़ेगा। समय-समय पर प्राप्त होने वाले रोगादि कष्ट और उनसे उत्पन्न होने वाली चिन्ताएँ हमारे स्वास्थ्य को दुर्बल बना देते हैं और इस प्रकार हमें मृत्यु के अधिक समीप ला खड़ा करते हैं। इसलिए मृत्यु का सहायक होने के कारण, मन्त्र में विविध कष्टों को मृत्युओं का नाम दे दिया गया है। इसी प्रकार मन्त्र में प्रयुक्त अमृत शब्द भी भाँति-भाँति के सुखों और मंगलों का वाचक है। क्योंकि सुख और मंगलों की शक्ति हमारे स्वास्थ्य को बढ़ा देती है और हमें मृत्यु से दूर करके अमृत की ओर ले जाती है। अमृत का—अमृतपन का—जनक होने के कारण विविध प्रकार के सुखों और मंगलों को ही मन्त्र में अमृत कह दिया है।

वेद के इन और इस प्रकार के अन्य मन्त्रों से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि ब्राह्मणों का एक यह भी कर्तव्य है कि वे जनता का भाँति-भाँति से मंगल करते रहें।

## ब्राह्मणों को इतना गुणी होना चाहिए कि लोग उनकी गुणगाथाओं का गान करें

ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में कहा है कि ब्राह्मणों को इतना गुणशाली होना चाहिए कि लोग उनके गुणों की कथाओं का गान करते रहें। मन्त्र इस प्रकार है :—

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः ॥
ऋग्० 1.190.1.

अर्थात्, 'हे प्रजाजन (अनर्वाणं) जो सब प्रकार की हिंसाओं से पृथक् है (वृषभं) जो प्रजाओं पर भाँति-भाँति के मंगलों की वर्षा करता है (मन्द्रजिह्वं)[1] जिसकी मधुर वाणी सबको मोहित कर लेती है (नव्यं) जो अपने गुणों के कारण स्तुति करने के योग्य है (बृहस्पतिं) ऐसे ब्राह्मण की (अर्कैः) अपनी स्तुतियों और पूजा-सत्कारों से (वर्धया) महिमा को बढ़ाओ (नवमानस्य)[2] स्तुति किये जा रहे (यस्य) जिसके, गुणों को (सुरुचः) प्रकाश वाले अर्थात् ज्ञानवान् (देवा)[3] अपने व्यवहार में कुशल (गाथान्यः)[4] गुण-कथाओं का गान करने वाले (मर्ताः) मनुष्य (आशृण्वन्ति)[5] सुनते और सुनाते हैं।'

मन्त्र का भाव अपने आप में स्पष्ट है। इसे स्पष्ट करने के लिए विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। मन्त्र से स्पष्ट सूचित होता है कि ब्राह्मणों को ऐसा गुण-शाली होना चाहिए कि लोग उसकी गुण-गाथाओं को गाते रहें।

## ब्राह्मण युद्ध भी कर सकते हैं

वेद के ब्राह्मणों विषयक प्रसंगों का अध्ययन करते हुए हमें ऐसे भी कई वर्णन मिलते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि प्रब्रह्मण युद्ध भी कर सकते हैं। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये। मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. यो नः सनुत्य उत वा जिघत्नुरभिख्याय तं तिगितेन विध्य।
   बृहस्पत आयुधैर्जेषि शत्रून् द्रुहे रीषन्तं परि धेहि राजन् ॥
   ऋग्० 2.30.9.
2. बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
   प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥
   ऋग्० 10.103.4.

[1] मादकवाचमिति सायणः।
[2] स्तूयमानस्य। कर्मणि कर्तृप्रत्यय इति सायणः।
[3] देवाः व्यवहर्तारः मर्ताः मनुष्याः इति सायणः।
[4] स्तुतिवचसो नेतारः इति सायणः। गाथानां नेतारः प्रयोक्तारः।
[5] आश्रावयन्ति इति सायणः।

मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) (यः) जो (नः) हमारा (सुनत्यः) छिपा हुआ (उत वा) अथवा प्रकट (जिघत्नुः) मारने की इच्छा वाला शत्रु है (तं) उसको (अभिख्याय) पहिचान कर (तिगितेन) तीक्ष्णशस्त्र से (विध्य) बींध दे (बृहस्पते) हे ब्राह्मण तुम (आयुधैः) शस्त्रास्त्रों से (शत्रून्) शत्रुओं को (जेषि) विजय करते हो (द्रुहे) हमारे साथ द्रोह करने वाले शत्रु के लिए (राजन्) हे राजन् हे प्रकाशमान (रीषन्तं) मारने वाले शस्त्र को (परिधेहि) धारण करो। (2) (बृहस्पते) हे ब्राह्मण तुम (रथेन) अपने रथ से (परिदीय)[1] शत्रुओं के चारों ओर पहुँचों (रक्षोहा) तुम राक्षस पुरुषों का संहार करने वाले हो (अमित्रान् ) शत्रुओं को (अपबाधमानः) रोकने वाले हो (सेनाः) शत्रु सेनाओं को(प्रभञ्जन्) तोड़ते हुए और (प्रमृणः)[2] हिंसक शत्रुओं को (युधाः) युद्ध द्वारा (जयन) विजय करते हुए तुम (अस्माकं) हमारे (रथानां) रथों के (अविता) रक्षक (एधि) होओ।

प्रथम मन्त्र में बृहस्पति को शस्त्रास्त्रों द्वारा शत्रुओं को जीतने वाला कहा है और उससे प्रार्थना की है कि जो हमें छिपकर अथवा प्रकाश रूप में मारना चाहे उस शत्रु को तुम अपने तीखे हथियारों से मार डालो। यह मन्त्र जिस सूक्त का है उसमें 11 मन्त्र हैं। अन्तिम मन्त्र का देवता मरुत् माना जाता है। छठे मन्त्र का देवता इन्द्र और सोम माने जाते हैं। आठवें मन्त्र के पूर्वार्द्ध का देवता सरस्वती मानी जाती है। नवें मन्त्र का देवता बृहस्पति माना जाता है। शेष मन्त्रों का देवता इन्द्र है। इस प्रकार सूक्त का प्रधान देवता इन्द्र है। सूक्त में इन्द्र से भी तीखे हथियारों से शत्रुओं को मारने की प्रार्थना की गई है। इन्द्र का अर्थ अधिराष्ट्र अर्थ में सम्राट् होता है यह हम जानते ही हैं। बृहस्पति इन्द्र के साथ—सम्राट् के साथ—मिलकर शत्रुओं से लड़ रहा है। राष्ट्र की राज्य शक्ति के साथ मिलकर शत्रुओं से लड़ रहा है जिन शत्रुओं के साथ लड़ा जाता रहा है वे भी प्रजा के—राष्ट्र के—शत्रु हैं। प्रस्तुत मन्त्र में प्रजाजन ही बृहस्पति से शत्रुओं को मारने की प्रार्थना कर रहे हैं। सूक्त के चौथे मन्त्र में इन्द्र को ही बृहस्पति भी कहा गया है। वहाँ श्री सायण ने भी बृहस्पति को स्वतन्त्र देवता न मानकर इस शब्द को इन्द्र का विशेषण माना है और इसका अर्थ किया है बड़े-बड़ों का पालक। सायण के शब्द हैं—'हे बृहस्पते बृहतां परिवढानां पालयितरिन्द्र' अर्थात्—'हे बड़े-बड़ों की पालना करने वाले इन्द्र।' इस आधार पर कोई कह सकता है कि उद्धृत प्रस्तुत मन्त्र में बृहस्पति का अर्थ ब्राह्मण नहीं करना चाहिए। इसका अर्थ बड़े-बड़ों का पालक इन्द्र ही करना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मण

1 दीयतिगतिकर्मा।

2 मृणहिंसायाम्। प्रमृणन्ति हिंसन्ति इति प्रमृणः शत्रवः। क्विप्।

के विषय में हम ऊपर देख चुके हैं कि वह अहिंसा परायण है और इसलिए किसी पर शस्त्र नहीं उठा सकता। यह ठीक है कि इस मन्त्र में भी बृहस्पति का अर्थ इन्द्र किया जा सकता है। परन्तु बृहस्पति का यहाँ इन्द्र (सम्राट्) अर्थ करने पर भी श्लेष अथवा ध्वनि से यह शब्द ब्राह्मण का निर्देश भी करेगा ही। क्योंकि अन्यत्र बृहस्पति का अर्थ ब्राह्मण होता है। इसलिए ब्राह्मण शस्त्रास्त्र लेकर राष्ट्र के शत्रुओं से युद्ध कर सकता है यह भाव उस मन्त्र से अवश्य व्यंजित होगा।

दूसरे मन्त्र में बृहस्पति को राक्षस-पुरुषों को और शत्रुओं को मारने और रोकने वाला कहा है। उससे कहा गया है कि वह शत्रुओं को अपने रथ से घेर ले, उनकी सेनाओं को तोड़ डाले और इस प्रकार युद्ध करके हिंसक शत्रुओं को विजय कर डाले एवं अपने पक्ष के रथारोही सैनिकों की रक्षा करे। जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसके 13 मन्त्र हैं। सूक्त के चतुर्थ मन्त्र का देवता बृहस्पति माना जाता है। बारहवें मन्त्र का देवता अप्वा माना जाता है और अन्तिम मन्त्र का देवता कोई मरुत् मानते हैं और कोई इन्द्र। शेष मन्त्रों का देवता इन्द्र है। इस प्रकार सूक्त का प्रधान देवता इन्द्र है। सारे सूक्त में युद्ध का वर्णन है। इन्द्र एक सेनापति के रूप में युद्ध का संचालन कर रहा है। इसी प्रसंग में बृहस्पति से प्रस्तुत मन्त्र में कही गई प्रार्थना की गई है। बृहस्पति इस सूक्त में भी इन्द्र के साथ—राष्ट्र की राज्य शक्ति के साथ—मिलकर शत्रु सेनाओं से लड़ रहा है। क्योंकि सूक्त का प्रधान देवता इन्द्र (सम्राट्) है इसलिए इस मन्त्र के बृहस्पति शब्द का अर्थ भी बड़े-बड़ों का पालक इन्द्र ऐसा किया जा सकता है। श्री सायण ने इस मन्त्र में भी बृहस्पति का अर्थ—'हे बृहस्पते बृहतां पते पालयितर्देव' ऐसा ही किया है। यद्यपि उन्होंने इस मन्त्र के बृहस्पति को स्पष्ट रूप में इन्द्र का विशेषण नहीं कहा है, जैसाकि ऋग्० 2.30.4. के बृहस्पति शब्द को स्पष्ट रूप में इन्द्र का विशेषण कहा है। परन्तु प्रस्तुत मन्त्र के बृहस्पति का शब्दार्थ श्री सायण ने वही किया है जो उस मन्त्रगत बृहस्पति शब्द का किया है। यह ठीक है कि क्योंकि सूक्त का प्रधान देवता इन्द्र है और सूक्त में विषय भी ऐसा ही चल रहा है जिसका सामान्यतः इन्द्र से ही सम्बन्ध है इसलिए प्रस्तुत मंत्र में बृहस्पति का अर्थ बड़े-बड़ों का रक्षक इन्द्र ऐसा किया जा सकता है। पर फिर भी, जैसा हम ऊपर की पंक्तियों में अभी उद्धृत प्रथम मन्त्र के विशदीकरण में दिखा कर आये हैं, क्योंकि बृहस्पति का अर्थ वेद के ब्राह्मण भी होता है इसलिए यह शब्द प्रस्तुत मन्त्र में प्रधानतः इन्द्र का वाचक होते हुए भी श्लेष और व्यंजना से ब्राह्मण का भाव भी दे सकता है और इस प्रकार इस मंत्र से भी यह भाव अवश्य व्यंजित होगा कि ब्राह्मण भी शस्त्रास्त्र लेकर शत्रु सेनाओं से लड़ सकता है। साथ ही इस सूक्त में एक बात और देखने की है। सूक्त के आठवें मन्त्र में यह वाक्य आता है—

'इन्द्र आसां नेता बृहस्पति दक्षिणा।' अर्थात् 'हमारी इन विजिगीषु सेनाओं का (देवसेनानां) इन्द्र नेता है और बृहस्पति उनके दक्षिण की ओर है।' सूक्तगत आठवें मन्त्र के इस वाक्य से यह स्पष्ट सूचित होता है कि यहाँ बृहस्पति इन्द्र से पृथक् है। इसलिए बृहस्पति का ब्राह्मणपरक अर्थ सूक्त में हमें करना ही होगा। और तब ब्राह्मण के विषय में युद्ध-सम्बन्धी जो निष्कर्ष हमने ऊपर दिखाया है वह निकलेगा ही।

## ब्राह्मण की अहिंसा और हिंसा का समन्वय

तब एक प्रश्न उपस्थित होता है। हम अभी पीछे देखकर आ रहे हैं कि ब्राह्मणों को अहिंसा-परायण होना चाहिए और इस खण्ड में हम देख रहे हैं कि ब्राह्मण शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध भी कर सकते हैं। ब्राह्मणों के सम्बन्ध में वेद ये दो परस्पर विरोधी बातें क्यों कहता है? शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध करने वाले ब्राह्मण अहिंसा-परायण—अहिंसा के व्रती—कैसे हो सकते हैं? वेद की ब्राह्मण-विषयक इन दोनों विरोधी बातों का क्या समाधान है? यह विरोध ऊपर-ऊपर से विरोध दीखता है। गहराई में जाकर देखने पर यह विरोध विरोध नहीं रह जाता है। ब्राह्मण का अपना वैयक्तिक जीवन सदा अहिंसा-परायण ही—अहिंसा का व्रती ही—रहेगा। वह अपने वैयक्तिक जीवन में अपने विरोधियों के प्रति भी प्रेम के ही भाव रखेगा और उनके साथ उपकार और भलाई का व्यवहार करते रहकर उनके हृदयों को जीतने का सदा प्रयत्न करेगा। वह अपने व्यक्ति के तौर पर किये जा रहे आचरणों में कभी इस सिद्धान्त से नहीं डिगेगा। बड़े-से-बड़े शत्रु के साथ भी वह अपनी वैयक्तिक स्थिति में सदा अहिंसा का ही आचरण करेगा। परन्तु राष्ट्र के साथ उनका जो सम्बन्ध है उसमें आकर ब्राह्मण शस्त्र का भी ग्रहण कर सकता है। मान लीजिए कोई राष्ट्र हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करता है। हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण, संन्यासी और दूसरे समझदार लोग इस आक्रान्ता राष्ट्र को समझाने की भरपूर कोशिश कर चुके हैं। हमारे राष्ट्र के राजनीतिज्ञों और दूसरे विद्वान् पुरुषों द्वारा आक्रान्ता राष्ट्र को पूरी तरह बताया जा चुका है कि हमारे राष्ट्र ने उसका कुछ नहीं बिगाड़ा है—वह स्वयं ही अन्याय के मार्ग पर है—और इसलिए उसे हमारे राष्ट्र के साथ लड़ने का कोई कारण नहीं है। परन्तु यह आक्रान्ता राष्ट्र हमारे राष्ट्र के साथ लड़ने से टलता नहीं है। इस पर हारकर हमारे राष्ट्र को इस राष्ट्र के साथ लड़ाई लड़ने का निश्चय करना पड़ता है। यह स्मरण रहे कि लड़ाई का निश्चय राज्य-सभा की—सभा और समिति की—स्वीकृति से ही होगा। यह भी स्मरण रहे कि राज्य-सभा में ब्राह्मणों की सम्मति का बहुत अधिक महत्त्व रहेगा। ब्राह्मण लोग, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, सत्य और न्याय के पुतले होते हैं। अतः जिस राजसभा में सत्यनिष्ठ ब्राह्मणों की सम्मति का भारी महत्त्व

होगा वह अन्याय और अधर्म का आश्रय लेकर किसी राष्ट्र से लड़ाई छेड़ने का निश्चय नहीं कर सकती। वह लड़ाई लड़ने का तभी निश्चय करेगी जबकि न्याय और धर्म उसे ऐसा करने के लिए बाधित करेंगे। इस प्रकार बाधित होकर आत्मरक्षा के लिए हमारे राष्ट्र को आक्रान्ता राष्ट्र से लड़ाई लड़ने का निश्चय करना पड़ेगा। जब आक्रान्ता राष्ट्र के साथ लड़ाई लड़ने का निश्चय हो गया तो अपने राष्ट्र को सारी शक्ति से उसके साथ लड़ना होगा। एक बार युद्ध करने का निश्चय हो जाने पर युद्ध को जीतना ही धर्म है। देश के क्षत्रिय तो इस युद्ध को जीतने के लिए सिर तोड़ लड़ेंगे ही। पर ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि आक्रान्ता राष्ट्र की शक्ति बहुत प्रवल हो, अकेले हमारे राष्ट्र के क्षत्रियों के लिए उसका पराभव सम्भव न हो। ऐसी स्थिति में राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति को युद्ध में लड़ने के लिए तैयार होना होगा। ऐसी संकट की स्थितियों को ध्यान में रखकर वेद ने आदेश दिया है कि—'विशंविशं युद्धये सं शिशाधि।'[1] अर्थात् 'राष्ट्र के एक-एक प्रजाजन को युद्ध की शिक्षा दो।' ऐसी संकट की स्थिति में राष्ट्र के ब्राह्मणों को भी शस्त्र हाथ में लेकर युद्ध में कूदना होगा।

वेद के पुरुष-सूक्तस्थ 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' वाले मन्त्र में ब्राह्मण आदि चारों वर्णों को शरीर के मुख आदि अंगों से उपमा दी है। शरीर में लड़ने का, रक्षा करने का, काम भुजा—जिसे क्षत्रिय कहा गया है—का है। परन्तु यदि अकेली भुजाओं से काम न चलता हो तो हमारा शरीर शत्रु को पैर भी मारता है, उछल-उछल कर कूल्हे भी मारता है और दाँतों से भी काटता है और सिर से भी टक्कर मारता है। क्षत्रिय से अकेले काम चलता न देखकर शरीर के चारों वर्ण लड़ाई में उतर आते हैं। राष्ट्र की रक्षा क्षत्रियों के जीवन का विशेष कर्तव्य है। पर संकट के समय राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध करना सभी वर्णों का कर्तव्य हो जाता है। उस समय अहिंसा के व्रती ब्राह्मणों को भी कुछ देर के लिए अहिंसा दूर कर देनी पड़ती है। क्योंकि यदि इस धर्म-युद्ध में अपना राष्ट्र हार गया तो समूचे राष्ट्र का ही विनाश हो जायेगा। जब आत्मरक्षा के सिद्धान्त का आश्रय लेकर ब्राह्मण राष्ट्र की रक्षा के लिए लड़ता है तो उसकी हिंसा वस्तुतः अहिंसा ही होती हैं। क्योंकि उस हिंसा के नीचे अहिंसा की धारा बह रही होती है। वह हिंसा अहिंसा की स्थापना के लिए की जा रही होती है।

इन उद्धृत दोनों मन्त्रों में हमने देखा है कि बृहस्पति इन्द्र के साथ मिलकर—ब्राह्मण सम्राट् के साथ अर्थात् राष्ट्र की राज्य शक्ति के साथ मिलकर—लड़ रहा है। अन्यत्र भी जहाँ कहीं ब्राह्मण के शस्त्र ग्रहण करने का वर्णन आता है वह राज्यशक्ति के साथ मिलकर ही आता है। इसका स्पष्ट परिणाम यही निकलता है कि जब राज्य

[1] ऋग्० 10.84.4 ; अथ० 4.31.4।

युद्ध करने का निश्चय कर ले और अकेले क्षत्रियों से काम न चल सके तो राष्ट्र के लिए संकट की स्थिति में ब्राह्मण भी युद्ध कर सकते हैं।

यह सदा ही स्मरण रखना चाहिए कि ब्राह्मण अपने राष्ट्र के लिए भी तभी लड़ेंगे जब अपना राष्ट्र सत्य पर होगा—धर्म पर होगा। यदि हमारा राष्ट्र अधर्म का सहारा लेकर किसी राष्ट्र के साथ लड़ने जायेगा तो सच्चे ब्राह्मण उस युद्ध में अपने राष्ट्र का भी साथ नहीं देंगे। यदि आवश्यकता होगी तो वे अपने ही राष्ट्र के लोगों के हाथों मर जाना पसन्द करेंगे पर अधर्म की लड़ाई में अपने राष्ट्र का भी साथ नहीं देंगे। न केवल साथ ही नहीं देंगे प्रत्युत अधर्मारूढ़ होकर युद्ध करने की अवस्था में वे अपने राष्ट्र का विरोध भी करेंगे। क्योंकि ब्राह्मण सत्य रूप (ऋग्० 2.23.11) होता है, वह सत्य के ज्योतिर्मय रथ पर बैठकर चलता है (ऋग्० 2.23.3)। इसलिये वह वास्तव में तो न अपने राष्ट्र के लिए लड़ता है और न किसी और राष्ट्र के लिए। वह तो सत्य के लिए लड़ता है। जब अपना राष्ट्र सत्य पर न होगा तो वह उसके भी विरुद्ध हो जायेगा।

जब आक्रान्ता राष्ट्र के साथ अपने राष्ट्र का युद्ध समाप्त हो जायेगा तो ब्राह्मण का वैयक्तिक जीवन फिर अहिंसा की राह पर चलने लग पड़ेगा। उनके मन में आक्रान्ता राष्ट्र के लोगों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं होगा। वह उन लोगों के साथ प्रेम से मिलेगा। उनके साथ उपकार और भलाई का व्यवहार करेगा। उनके दुःखों को दूर करने का उपाय करेगा। उनके साथ अपने राष्ट्र की जो सन्धि होगी उसमें उन पर किसी प्रकार के अन्याय और अत्याचार नहीं होने देगा। वह ऐसे प्रयत्न करेगा जिनसे दोनों राष्ट्रों के बीच का अविश्वास और गलतफहमी दूर होकर दोनों राष्ट्रों के लोग परस्पर प्रीति के साथ रह सकें। ब्राह्मण अहिंसा की रक्षा के लिए ही हिंसा कर रहा था। अब दोनों राष्ट्रों में लड़ाई थम जाने पर वह पराजित राष्ट्र के लोगों के साथ अपने व्यवहार से प्रबल रूप में दिखा देगा कि उसकी हिंसा भी असल में अहिंसा थी।

वैयक्तिक जीवन में ब्राह्मण अतिशय अहिंसा-व्रती रहेगा ही। पर वैयक्तिक जीवन में भी वह कभी-कभी शस्त्र ग्रहण कर सकेगा। वह भी तब जबकि विशेष संकट के समय उपस्थित होंगे। उदाहरण के लिए मान लीजिये ब्राह्मण किसी निर्जन जंगल के रास्ते में से आ रहा है। वहाँ अकस्मात् कोई डाकू उसके सामने आ जाता है और उस पर आक्रमण करना चाहता है। ब्राह्मण डाकू को समझाता-बुझाता है। डाकू का उस ब्राह्मण से पहले कोई परिचय नहीं है। वह ब्राह्मण के गुणों को नहीं जानता है। इसलिए ब्राह्मण के समझाने-बुझाने का डाकू पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। नगर की स्थिति नहीं है कि राज कर्मचारी दूसरे लोग डाकू को मारने से रोक देंगे। ऐसी

स्थिति में ब्राह्मण डाकू से अपने बचाव के लिए शस्त्र का प्रयोग कर सकता है। 'विशंविशं युद्धये सं शिशाधि'[1]—'राष्ट्र के एक-एक प्रजाजन को युद्ध की शिक्षा दो'—वेद की राजा के प्रति इस आज्ञा के आधार पर प्राप्त की हुई शस्त्रास्त्र-संचालन की शिक्षा अब उसके काम आयेगी। अहिंसा-व्रती ब्राह्मण का उद्देश्य डाकू को मार डालना नहीं है। उसका उद्देश्य केवल अपनी रक्षा करना है। इसलिये वह पहले तो अपने युद्ध-शिक्षा के कौशल से ऐसा प्रयत्न करेगा जिससे डाकू के हथियार छीन लिये जायें अथवा नष्ट कर दिये जायें जिससे डाकू उसे जो हानि पहुँचाना चाहता था वह न पहुँचा सके। डाकू को निहत्था करके ब्राह्मण छोड़ देगा। जान से उसे मारेगा नहीं। यदि डाकू को निहत्था न किया जा सका और अपने बचाव के लिए उसे मारना ही आवश्यक हो गया तो ब्राह्मण उसे मार भी देगा। उसकी यह हिंसा हिंसा नहीं होगी। यह अहिंसा ही होगी। इस प्रकार डाकू से अपना बचाव कर लेने के पश्चात् ब्राह्मण के मन में उसके प्रति द्वेष और घृणा के भाव नहीं होंगे। उसके मन में डाकू के प्रति प्रेम ही रहेगा। वह समय पड़ने पर उस डाकू के साथ भलाई का ही बरताव करेगा। डाकू के दुःख और कष्ट की अवस्था में, यदि उसे ज्ञात हो जायेगा तो, वह डाकू के पास पहुँचेगा और उसके दुःख और कष्ट को दूर करने का प्रयत्न करेगा और इस प्रकार डाकू का हृदय जीतकर उसे सुधारने का निरन्तर प्रयत्न करता रहेगा। ब्राह्मण के जीवन का एकमात्र प्रेरक भाव अहिंसा—प्रेम और उपकार की वृत्ति होती है। जब कभी उसे अति संकट में पड़कर हिंसा करनी पड़ जाती है। तब भी उसके हृदय में अहिंसा की गंगा ही लहरें मार रही होती है और यह अहिंसा की बद्धमूल वृत्ति ब्राह्मण की कदाचित् हिंसा को भी अहिंसा का रूप दे देती है। क्योंकि उसकी यह कदाचित् हिंसा भी अहिंसा की प्रतिष्ठा—अहिंसा की स्थापना—के लिए की जाती है।

## ब्राह्मणों को ब्रह्म-ज्ञानी होना चाहिए

वेद के अध्ययन से ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह मालूम होती है कि उन्हें ब्रह्म-ज्ञानी होना चाहिए—परमात्मा का साक्षात्कार उन्हें होना चाहिए। प्रथम तो ब्राह्मण इस नाम से ही सूचित होता है कि ब्राह्मणों को ब्रह्म-ज्ञानी होना चाहिए। ब्रह्म का एक अर्थ परमात्मा भी होता है। जो ब्रह्म अर्थात् परमात्मा को जानता हो और जो ब्रह्म-विद्या का अध्ययन करता हो वह ब्राह्मण[2] कहलायेगा। जो बात ब्राह्मण के नाम से सूचित होती है वही वेद में स्थान-स्थान पर अधिक स्पष्ट रूप

[1] ऋग्० 10.84.4 ; अथ० 4 31.4।

[2] ब्रह्म अधीते वेद वा ब्राह्मणः। तदधीते तद्वेद।

में कही गई है। उदाहरण के लिए निम्न वेद मन्त्रों को देखिये—

1. सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश। ऋग्० 10.16.6.
अथ० 18.3.55.
2. सोमो ह्यस्य दायाद। अथ० 5.18.6.
3. सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। यजु० 9.40; 10.18.
4. सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ ऋग्० 10.85.3.
5. इमे ये नार्वाङ्न परश्चन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
ऋग्० 10.71.9.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है :—

(1) जो सोम (परमात्मा) ब्राह्मणों में सब ओर से प्रविष्ट हो रहा है। (2) सोम (परमात्मा) इस ब्राह्मण का सम्बन्धी (दायाद) है। (3) सोम (परमात्मा) हम ब्राह्मणों का राजा है। (4) (यत्) जो कि (औषधिं) औषधि को—सोम नामक औषधि को (पिंषयन्ति) पीस लेते हैं, [उसी से कोई अज्ञानी लोग] (सोम) सोम को (पपिवान्) पिये हुए (मन्यते) मान लेता है (यं) जिस (सोमं) सोम को (ब्रह्माणः) ब्रह्म-ज्ञानी ब्राह्मण (विदुः) जानते हैं (तस्य) उसका (कश्चन) कोई भी (न) नहीं (अश्नाति) उपभोग करता है। (5) जो ये लोग न इस लोक की ओर चलते हैं और न परलोक की ओर चलते हैं और इस प्रकार न ब्राह्मण अपने आपको बनाते हैं और न ही यज्ञ-यागादि उपकार के काम करते हैं।

हमने इन मन्त्रों में सोम का अर्थ परमात्मा किया है। इस अधिराष्ट्र अर्थ में सोम का अर्थ शिक्षा-प्राप्त स्नातक करते रहे हैं। एक अध्याय में हमने सोम का अर्थ न्यायाधीश भी किया है। सोम का अर्थ वेद में सोम नामक औषधि भी होता है और कई स्थलों पर इसका अर्थ चन्द्रमा भी होता है। इस शब्द के धन-सम्पत्ति आदि कई और अर्थ भी प्रसंग-प्रसंग पर होते हैं। परन्तु इन उद्धृत मन्त्रों में सोम के ये अर्थ संगत नहीं हो सकते। जो सोम ब्राह्मणों में सब ओर से प्रविष्ट हो रहा है, जो ब्राह्मणों का समीपस्थ सम्बन्धी है, जो ब्राह्मणों का राजा है और जिस सोम को ब्राह्मण लोग ही जानते हैं और कोई साधारण प्रजाजन नहीं जानते हैं वह सोम स्नातक आदि सोमों में से नहीं हो सकता। ऐसा सोम परमात्मा ही हो सकता है। यह परमात्मा रूपी सोम ही ब्राह्मणों में सब ओर से प्रविष्ट है। यों तो सर्वव्यापक परमात्मा सभी लोगों में प्रविष्ट है। परन्तु और साधारण लोग उसकी व्यापकता को अनुभव नहीं करते और न ही उसे जानने का प्रयत्न करते हैं। ब्राह्मण लोग उसकी व्यापकता को अनुभव करते हैं, उसे जानने का प्रयत्न करते हैं और उसे जानकर अपने सारे मानसिक और

शारीरिक व्यापारों को उसकी आज्ञाओं के अनुकूल ढालते हैं, इसलिये ब्राह्मणों के लिए विशेष रूप से मन्त्र में कहा गया है कि सोम परमात्मा उनमें सब ओर प्रविष्ट है—उनके रोम-रोम, सांस-सांस और एक-एक कार्य में परमात्मा की प्रतीति झलक रही होती है। यह परमात्मा रूपी सोम ही ब्राह्मणों का समीपस्थ सम्बन्धी है। ब्राह्मण लोग अपनी रक्षा और कल्याण के लिए सबसे अधिक भरोसा परमात्मा पर ही करते हैं। वे अपने सम्बन्धियों से बढ़कर हितैषी सम्बन्धी परमात्मा को ही समझते हैं। ब्राह्मण लोग इस परमात्मा रूपी सोम को ही अपना राजा समझते हैं। वे संसार के किसी राजा को अपना राजा नहीं मानते। इसीलिये वे संसार के किसी राजा से नहीं डरते। वे प्रभु को ही अपना राजा मानते हैं। उसी के नियमों पर चलते हैं और उसी से डरते हैं। वे सांसारिक राजाओं के नियमों को वहीं तक मानते हैं और वहीं तक उनसे डरते हैं जहाँ तक उनके नियम परमात्मा के नियमों के अनुकूल होते हैं। जो सोम पीसकर पी जा सकने वाली औषधि नहीं है, जिसे ब्राह्मण ही लोग जानते हैं और कोई साधारण प्रजाजन जिसका उपभोग नहीं कर सकता—जिसे जान नहीं सकता—वह केवल मात्र ब्राह्मणों के—ब्रह्मज्ञानियों के—ज्ञान का विषय सोम परमात्मा ही हो सकता है। यह उद्धृत चौथा मन्त्र (ऋग्० 10.85.3.) अथर्ववेद 14.1.3 में भी आता है। अथर्ववेद में "न तस्याश्नाति कश्चन" के स्थान में "न तस्याश्नाति पार्थिवः" ऐसा पाठ है। इस पाठ का अर्थ यह होगा कि "कोई पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला—पृथिवी के, संसार के, विषयों में फँसा हुआ—व्यक्ति उसका उपभोग नहीं कर सकता।" तात्पर्य यह है कि औषधि व्यतिरिक्त जिस सोम को ब्राह्मण ही जानते हैं उसका उपभोग—उसका ज्ञान और सेवन—संसार के विषयासक्त पुरुष नहीं कर सकते। इस प्रकार के विषयासक्त पुरुषों की पहुँच से बाहर का सोम परमातमा ही हो सकता है। उद्धृत अन्तिम पाँचवें मन्त्र में ब्राह्मणों के विषय में कहा गया है कि वे लोक और परलोक दोनों को जानते हैं। परलोक के जानने में परमात्मा का जानना समाविष्ट है। इस प्रकार ब्राह्मण वे हैं जो परमात्मा को भी जानते हैं।

वेद के इन और ऐसे ही अन्य प्रसंगों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों को ब्रह्म-ज्ञानी भी होना चाहिए। वास्तव में जब तक ब्राह्मण लोग ब्रह्म-ज्ञानी नहीं होंगे तब तक ऊपर के खण्डों में ब्राह्मण के जिन सत्य, अहिंसा, संयम, पवित्रता, उपकार आदि महान् गुणों का वर्णन किया गया है, उनमें उन्हें पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। जब ब्राह्मण परमात्मा को पहचान कर उस पर पूर्ण भरोसा करके उसकी आज्ञाओं के अनुकूल अपना जीवन बिताना प्रारम्भ करता है तभी उसमें इन गुणों की पूर्णता आती है। गुणों के एकमात्र पूर्ण भण्डार ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होने

पर ही ब्राह्मण गुणों का पूर्ण आगार वन सकता है।

इन मन्त्रों में, जैसा अभी ऊपर पाठकों ने देखा है, हमने सोम का अर्थ परमात्मा किया है। जो लोग ऋषि दयानन्द की वेद-भाष्य शैली से परिचित नहीं हैं उन्हें यह अर्थ कुछ विचित्र-सा प्रतीत होगा। ऊपर की पंक्तियों में जितना लिखा गया है उतने से सोम का अर्थ परमात्मा भी होता है इस सम्बन्ध में पूर्ण सन्तोष न होगा। इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-सा और विचार कर लेना चाहिए।

इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की भाँति सोम भी वेद का एक प्रधान देवता—वर्णनीय विषय है। वेद के सब देवता एक ही देवता अध्यात्म क्षेत्र में परमात्मा—के नाम हैं यह वेद में ही स्पष्ट कर दिया गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋग्० 1.164.46.

2. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० 32.1.

3. यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
ऋग्० 10.82.3; यजु० 17.27.

4. स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥
अथ० 2.1.3.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) उसी को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं, वही दिव्य सुवर्ण और गुरुत्मान् है, एक ही उसको मेधावी लोग बहुत प्रकार से कहते हैं, अग्नि, यम और मातरिश्वा उसी को कहते हैं।

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का वर्णनीय विषय सूर्य को माना है। और इन्द्रादि सब नाम सूर्य के ही हैं। ऐसा भाव लिया है। परन्तु उन्होंने यहाँ सूर्य को ब्रह्म से अभिन्न माना है। इसलिए सायण के मत में भी इन्द्रादि सब नाम परमात्मा के हो जाते हैं। निरुक्त में यास्काचार्य ने इस मन्त्र का वर्णनीय विषय अग्नि को माना है। परन्तु अग्नि का अर्थ यास्क ने 'महान् आत्मा' अर्थात् परमात्मा किया है। अतः यास्क के मत में भी इन्द्रादि सब नाम परमात्मा के ही ठहरते हैं। ऋषि दयानन्द ने भी अग्नि का अर्थ परमात्मा ही किया है और स्पष्ट लिखा है कि इन्द्र आदि सब नाम

परमात्मा के ही हैं। जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें 52 मन्त्र हैं। सूक्त के मन्त्रों पर सरसरी दृष्टि डालने से यह प्रतीत होता है कि सूक्त में आध्यात्मिक विषयों का ही वर्णन है। इसलिए मन्त्र का प्रधान देवता—वर्णनीय विषय—चाहे सूर्य को मानें और चाहे अग्नि को, उसका मुख्य अर्थ परमात्मा ही करना होगा जैसाकि सायण, यास्क और दयानन्द ने किया है।

(2) वह ही अग्नि है, वह ही आदित्य है, वह ही वायु है और वह ही चन्द्रमा है, वह ही शुक्र है, वह ही ब्रह्म है, वह ही आपः है और वह ही प्रजापति है।

यजुर्वेद के जिस अध्याय का यह मन्त्र है उसमें ब्रह्म का ही वर्णन है। मन्त्र का तद् (वह) शब्द उसी प्रसिद्ध ब्रह्म की ओर निर्देश करता है। इस मन्त्र के अनुसार भी अग्नि आदि सब उसी एक परमात्मा के नाम हैं।

(3) जो हमारा पिता है, हमारा उत्पन्न करने वाला है, हमारा विधाता अर्थात् उत्पादक और धारण करने वाला है, जो सब धामों को और भुवनों को जानता है, जो एक ही सब देवों के नामों को अपने में धारण करने वाला है (देवानां नामधः) उसी के सम्बन्ध में दूसरे प्राणी (भुवना) अर्थात् मनुष्य प्राणी प्रश्न करते हैं कि परमेश्वर कौन है।

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसका देवता विश्वकर्मा है। इसलिए इस मन्त्र का देवता भी विश्वकर्मा ही हुआ। सारे सूक्त में विश्वकर्मा का अर्थ सबको बनाने वाला परमात्मा ही हो सकता है। सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र में स्पष्ट तौर से परमात्मा का ही वर्णन माना है। सायण के शब्द हैं—'प्रश्नं कः परमेश्वर इति पृच्छां यन्ति प्राप्नुवन्ति।' मन्त्र में इस विश्वकर्मा परमात्मा के सम्बन्ध में कहा है कि 'यः देवानां नामधा एक एव', अर्थात् 'जो एक ही सब देवों के नामों को अपने में धारण करने वाला है।' इससे स्पष्ट है कि इन्द्र, सोम आदि सब नाम उसी एक परमात्मा के ही हैं।

अगला मन्त्र कुछ परिवर्तन के साथ वही है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद का यह व्याख्यात मन्त्र था। अथर्ववेद के इस मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(4) वह हमारा पिता है, वह उत्पन्न करने वाला है, और वही हमारा बन्धु है, वह सब धामों और भुवनों को जानता है, जो एक ही सब देवों के नामों को अपने में धारण करने वाला है (देवानां नामधः) उसी के सम्बन्ध में सब भुवन अर्थात् उत्पन्न प्राणी प्रश्न करते हैं कि वह परमात्मा किस प्रकार का है ?

अथर्ववेद के जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसका देवता वेन है। सारे सूक्त में जिस प्रकार का वर्णन चल रहा है वह परमात्मा पर ही घट सकता है। इसलिए सूक्त के मन्त्रों का अर्थ करते हुए वेन का अर्थ चाहने योग्य और कान्तिमान् परमात्मा ऐसा

करना होगा। वेन शब्द वेन धातु से बनता है जिसका अर्थ कान्ति होता है (निरु० 10.38)। कान्ति का अर्थ चाहना और कान्तिमान् होना दोनों होते हैं। श्री सायण ने वेन का अर्थ सूर्य किया है। परन्तु उन्होंने भी सूर्य को ब्रह्म रूप माना है। आकाश में चमकने वाला जड़ सूर्य तो ब्रह्म हो नहीं सकता। इसलिए सायण के अर्थ में भी सूर्य का सबको प्रेरणा देने वाला, प्रकाश स्वरूप परमात्मा ऐसा यौगिक अर्थ लेना चाहिए। कुछ भी हो, सूक्त में ब्रह्म का वर्णन है और उस ब्रह्म को प्रस्तुत मन्त्र में सब देवों के नामों को अपने में धारण करने वाला कहा है। इस प्रकार इस मन्त्र के वर्णन से भी स्पष्ट है कि इन्द्र, अग्नि, सोम आदि सब नाम एक पक्ष में परमात्मा के ही हैं।

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का प्रथम सूक्त भी देखा जा सकता है। यह सूक्त 16 मन्त्रों का है। इसका देवता अग्नि है। इसमें इन्द्र, विष्णु, मित्र अर्यमा, यम, त्वष्टा, रुद्र, सविता, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति आदि सब नाम अग्नि के हैं ऐसा कहा गया है। इन नामों के अतिरिक्त और भी अनेक नाम अग्नि के बताये गये हैं। ऊपर के मन्त्रों के आधार पर हम देख चुके हैं कि अग्नि परमात्मा का ही नाम है इसलिये इस सूक्त में भी अग्नि का अर्थ सबको प्रकाश और गरमी देकर आगे बढ़ाने वाला परमात्मा ऐसा किया जा सकता है। और इस प्रकार इस सूक्त के वर्णन से भी यह सिद्ध होगा कि आध्यात्मिक अर्थ में इन्द्र, आदि सब नाम परमात्मा के ही हैं।



इसलिये वेद के इन प्रमाणों के आधार पर हम सोम का अर्थ परमात्मा भली-भाँति कर सकते हैं।

फिर यदि हम सोम के सूक्तों पर दृष्टि डालें तो हमें सोम के कितने ही वर्णन ऐसे मिलते हैं जो परमात्मा पर ही घट सकते हैं, और किसी सोम पर जो नहीं घट सकते। ऊपर के खण्ड में हम कुछ मन्त्र ऐसे दिखा आये हैं। इन मन्त्रों के अर्थों की विवेचना में हम देख आये हैं कि यहाँ सोम का अर्थ परमात्मा ही हो सकता है और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में कुछ मन्त्र और देखिये—

1. एष सूर्यमरोचयत्। ऋग्० 9.28.5.
2. अरोचयत् जामिभिः सूर्यं सह। ऋग्० 9.37.4.
3. जनयन् रोचना दिवः। ऋग्० 9.42.1.
4. यया सूर्यमरोचयः। ऋग्० 9.63.7.
5. त्विषीरधित सूर्यस्य। ऋग्० 9.71.9.
6. सूर्यमारोहयो दिवि। ऋग्० 9.86.22.
7. आ सूर्यं रोहयो दिवि। ऋग्० 9.107.7.

8. सेमे मही रोदसी दाधार। ऋग्० 9.74.2.
9. अयं पुनान उषसो वि रोचयत्। ऋग्० 9.86.21.
10. त्वं द्यां च पृथिवीं चाति जभ्रिषे तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः।
ऋग्० 9.86.29.
11. विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः। ऋग्० 9.87.2.
12. जनिता रोदस्यो। ऋग्० 9.90.1.
13. ज्योङ्नः सूर्यं दृशये रिरीहि। ऋग्० 9.91.6.
14. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥
ऋग्० 9.96.5.
15. अजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः। ऋग्० 9.97.41.
16. त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे। ऋग्० 9.100.9.
17. व्यख्यद्रोदसी उभे। ऋग्० 9.101.7.
18. अजीजनो हि पवमान सूर्यम्। ऋग्० 9.110.3.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) इस सोम ने सूर्य को प्रकाशित किया है (अरोचयत्)। (2) सोम ने ग्रह-नक्षत्रादि (जामिभिः[1]) के साथ सूर्य को प्रकाशित किया है। (3) सोम द्युलोक के तारों को (रोचना) उत्पन्न करने वाला है। (4) हे सोम जिससे तुमने सूर्य को प्रकाशित किया है। (5) सोम ने सूर्य के तापों को (त्विषीः) उसमें धारण किया है। (6) हे सोम तुमने सूर्य को द्युलोक में चढ़ाया है। (7) हे सोम तुमने सूर्य को द्युलोक में चढ़ाया है। (8) उस सोम ने इन महान् द्युलोक और पृथिवी लोक को धारण किया हुआ है। (9) इस पवित्र करने वाले सोम ने उषाओं को प्रकाशित किया है। (10) सोम तुम द्युलोक को और पृथिवी लोक को धारण करते हो (अति जभ्रिषे) और सूर्य तेरा ही प्रकाश है। (11) सोम द्यौ और पृथिवी को थामने वाला है। (12) सोम द्यौ और पृथिवी का (रोदस्योः) उत्पन्न करने वाला है। (13) हे सोम तू हमें देर तक देखने के लिए सूर्य को दे (रिरीहि)। (14) सोम पवित्र करता है, वह मननशील बुद्धियों का (मतीनां) उत्पन्न करने वाला है, द्युलोक का उत्पन्न करने वाला है, पृथिवी का उत्पन्न करने वाला है, अग्नि का उत्पन्न करने वाला है, सूर्य का उत्पन्न करने वाला है, इन्द्र का उत्पन्न करने वाला है, और विष्णु का उत्पन्न करने वाला है। (15) सोम ने सूर्य में ज्योति उत्पन्न की है। (16) हे

[1] जामिभिः प्रवृद्धैर्बन्धुभूतैर्वा स्वतेजोभिरिति सायणः।
यद्वा स्वसंबन्धिभूतैर्ग्रहनक्षत्रादिभिः।

महान् कर्म वाले (महिव्रत) सोम तुमने द्युलोक और पृथिवी लोक को धारण किया हुआ है। (17) सोम द्यौ और पृथिवी दोनों को प्रकाशित करता है (व्यख्यत्)। (18) हे पवित्र करने वाले सोम तुमने सूर्य को उत्पन्न किया है।

इन मन्त्रों में जिन महान् कर्मों का वर्णन किया गया है उन्हें करने वाला सोम परमात्मा ही हो सकता है।

और देखिये—

1. अयं स यो दिवस्परि···सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत्। ऋग्० 9.39.4.
2. जनयन्नप्सु सूर्यम्। ऋग्० 9.42.1.
3. पवस्व वृष्टिमा सु नो ऽपामूर्मिं दिवस्परि।
   अयक्ष्मा बृहतीरिषः। ऋग्० 9.49.1.
4. ईशे यो वृष्टेरित उस्रियो वृषा ऽपां। ऋग्० 9.74.3.
5. राजा सिन्धूनाम्। ऋग्० 9.89.2.
6. त्वं समुद्रं प्रथमो वि धारयः। ऋग्० 9.107.23.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) यह सोम जोकि आकाश से (दिवः) जल-समुद्र की लहरों को बहाता है। (2) सोम जलों में सूर्य को अर्थात् विद्युत् को उत्पन्न करने वाला है। (3) हे सोम तुम हमारे लिए आकाश से वृष्टि को, जलों की लहरों को, पवित्र करके लाओ (पवस्व) और हमारे अन्नों को (इषः) बहुत और रोग रहित (अयक्ष्मा) करो। (4) जो सोम वृष्टि का स्वामी है, किरणों का स्वामी है (उस्रियः) और जलों का बरसाने वाला है। (5) सोम समुद्रों का (सिन्धूनां) राजा है। (6) हे सोम तुमने ही सबसे प्रथम समुद्र को धारण किया है।

जिन महान् कर्मों का इन मन्त्रों में वर्णन किया गया है उनका करने वाला सोम भी परमात्मा ही हो सकता है।

और देखिये—

1. अयं सूर्य इव। ऋग्० 9.54.2.
2. सोमो देवो न सूर्यः। ऋग्० 9.54.3.
3. आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद्विचक्षणः।
   ऋग्० 9.75.1.
4. पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्।
   कृष्णा तमांसि जङ्घनत्॥ ऋग्० 9.66.24.
5. सहस्रधारेऽव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
   अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवः॥
   ऋग्० 9.73.4.

6. राजानमस्य भुवनस्य। ऋग्० 9.85.3.
7. त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि। ऋग्० 9.86.28.
8. एष विश्ववित् पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा।
ऋग्० 9.97.56.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) यह सोम सूर्य की भाँति है। (2) सोम देव सूर्य की भाँति है। (3) सब कुछ जानने वाला (विचक्षणः) महान् सोम महान् सूर्य के सर्वत्रगामी रथ पर चढ़ा हुआ है। (4) पवित्र करने वाले सोम ने सत्यज्ञान युक्त (ऋतं) दीप्यमान शुभ्र वर्ण की (शुक्रं) महान् ज्योति को उत्पन्न किया है और इस प्रकार काले अन्धेरे को मार डाला है।

सोम के ये वर्णन भी परमात्मा में ही भली-भाँति संगत हो सकते हैं। परमात्मा ही सूर्य की भाँति प्रकाशमान हो सकता है। अपने ज्ञान आदि गुणों के कारण परमात्मा को वेद में अन्यत्र सूर्य की भाँति प्रकाशमान कहा भी है। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त का प्रसिद्ध मन्त्र है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
यजु 31.18.

इस मन्त्र में ब्रह्म का साक्षात् जिसने कर लिया है ऐसे उपासक की ब्रह्मसाक्षात्कारात्मिका वृत्ति का चित्र खींचा गया है। वह कह रहा है—'मैंने उस पुरुष (परमात्मा) को जान लिया है, वह सूर्य के वर्ण का (आदित्यवर्ण) है और अन्धकार से परे है, उसी को जानकर साधक मृत्यु को तर सकता है, और कोई मार्ग मोक्ष की ओर जाने के लिए नहीं है। इसलिये सोम देव का सूर्य की भाँति प्रकाशमान होना उसके परमात्मा होने की ओर ही मुख्यतः संकेत करता है। सूर्य के महान् रथ पर चढ़ने वाला सोम भी परमात्मा ही हो सकता है। सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा की सत्ता सूर्य में भी है। और उसी की सत्ता से अधिष्ठित होने के कारण सूर्य अपने कामों को ठीक प्रकार कर रहा है जैसे कि कोई रथ सारथि से अधिष्ठित होने के कारण ठीक प्रकार चलता है। और कोई सोम सूर्य में व्यापक नहीं हो सकता। अन्धकारों का नाश करने वाली सत्यज्ञान युक्त ज्योति का रचयिता सोम भी परमात्मा ही ठहरता है। वेद के रूप में इस प्रकार की ज्योति परमात्मा ने उत्पन्न कर रखी है। श्रीसायण के भाष्यानुसार भी यह ज्योति सूर्य प्रतीत होती है। सूर्य का निर्माता भी परमात्मा ही हो सकता है। सोम का यह वर्णन भी मुख्यतः सोम के परमात्मा होने की ओर ही निर्देश करता है।

अब अगले मन्त्र को लीजिये—

(5) इस सोम के (भूर्णयः) शीघ्र गमन करने वाले (पाशिनः) दुष्टों को पाश में बांधने वाले (स्पशः) गुप्तचर (पद-पदे) स्थान-स्थान में (सेतवः) सम्बद्ध (सन्ति) हैं, उनकी पलकें (न) कभी नहीं (निमिषन्ति) झपकतीं (मधुजिह्वाः) वे मधुर जिह्वा वाले हैं। (असश्चतः) वे किसी से न मिल जाने वाले हैं (सहस्रधारे) सहस्रों का धारण करने वाले (दिवः) विविध व्यवहार वाले जगत् के (नाके)[1] केन्द्र स्थानों में (समस्वरन्) वे गुप्तचर दुष्टों को उपतप्त करते हैं।

यहाँ सोम के गुप्तचरों का वर्णन है। परमात्मा की न्याय-व्यवस्था को, जिसके अनुसार पापियों को बांधकर भगवान् दण्डित करते हैं, यहाँ अलंकार से गुप्तचर कहा है। जैसे किसी राजा के गुप्तचर छिपकर काम करते हैं—उन्हें कोई देख नहीं पाता और वे अपना काम कर जाते हैं उसी प्रकार परमात्मा की न्याय-व्यवस्था भी स्थूल आँखों से नहीं दीखती, पर वह अपना काम कर रही होती है। इसीलिये उसे यहाँ गुप्तचर नाम से कहा गया है। अथर्ववेद के चौथे काण्ड के सोलहवें सूक्त में भगवान् की इस न्याय-व्यवस्था का गुप्तचर के रूप में बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है। अथर्ववेद के उस सूक्त में भगवान् की जिस कर्मफल-व्यवस्था का वर्णन किया गया है उसी की ओर प्रस्तुत मन्त्र में प्रकारान्तर से निर्देश किया गया है। भगवान् की न्याय-व्यवस्था किस प्रकार काम करती है गुप्तचरों के विशेषणों को ध्यान से देखने पर इस पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार के गुप्तचरों वाला सोम परमात्मा ही हो सकता है। सोम ओषधि तो किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है। सोम का अर्थ न्यायाधीश करने की अवस्था में उसे सम्राट् का रूप समझ कर राज्य के गुप्तचर किन गुणों वाले होने चाहिए इस सम्बन्ध का उपदेश इस मन्त्र से अवश्य लिया जा सकता है। पीछे प्रथम भाग के सोलहवें अध्याय के गुप्तचर नामक खण्ड में हमने इस मन्त्र पर विचार भी किया है। पर अथर्ववेद के 4.16. सूक्त के वर्णन के आधार पर इस मन्त्र में सोम का अर्थ परमात्मा ही प्रधानतः करना होगा। अथर्ववेद के उस सूक्त में वरुण की महिमा का वर्णन है। वहाँ जो वर्णन है उसके आधार पर वरुण का प्रधान अर्थ परमात्मा ही हो सकता है। प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के जिस सूक्त का है उसमें सोम को वरुण भी कहा गया है। सूक्त के तीसरे मन्त्र के वरुण शब्द को श्री सायण ने भी सोम का वाचक माना है। सायण के शब्द हैं—'वरुणः सर्वस्य स्वतेजसाच्छादकः सोमः'। इसलिए यहाँ सोम का अर्थ परमात्मा करना होगा। यद्यपि गौण वृत्ति से यह पद न्यायाधीश या राजा का वाचक भी हो सकेगा।

(6) सोम को जो कि इस सारे लोक का राजा है। (7) हे सोम तुम सारे

[1] नाके समुच्छ्रिते देशे इति सायणः। व्यवहाराणां समुच्छ्रिता देशाः तेषां केन्द्रस्थानानि यत्र भूयांसो व्यवहारा भवन्ति।

लोक के राजा हो । (8) यह सोम सब कुछ जानने वाला है, सबको पवित्र करता है, मननशील बुद्धि वाला है, और इस सारे विश्व का राजा है । सारे विश्व का राजा सोम परमात्मा ही हो सकता है ।

इस सम्बन्ध में सोम सूक्त का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है :—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ।।
ऋग० 9.83.1.

मन्त्र का अर्थ है :—

(ब्रह्मणस्पते) वेद के स्वामी हे सोम (ते) तुम्हारा (पवित्र) पवित्र करने वाला स्वरूप (विततं) सर्वत्र फैला हुआ है (प्रभुः) तू सबका समर्थ स्वामी है (विश्वतः) सब ओर से (गात्राणि) सबके शरीरों को (पर्येषि) तुम प्राप्त हो रहे हो—सब पदार्थों में तुम व्यापक हो (अतप्त तनुः) जिसका शरीर ब्रह्मचर्य आदि तपों के द्वारा तप नहीं गया है ऐसा (आमः) कच्चा व्यक्ति (तत्) उस तुम्हारे पवित्र स्वरूप को (न) नहीं (अश्नुते) प्राप्त करता है (शृतासः) परिपक्व पुरुष (इत्) ही (वहन्तः) जीवन को वहन करते हुए (तत) तुम्हारे उस पवित्र स्वरूप को (समाशत) प्राप्त करते हैं ।

जिस सूक्त का यह मंत्र है उसका देवता अर्थात् वर्णनीय विषय सोम है । अतः इस मंत्र का देवता भी सोम ही हुआ । मंत्र कहता है कि सोम ब्रह्म अर्थात् वेद का स्वामी है । उसका स्वरूप सबको पवित्र करने वाला है । उसका वह पवित्र स्वरूप सर्वत्र फैला हुआ है । वह सब कुछ कर सकने में समर्थ सबका स्वामी है । वह संसार के सब पदार्थों के शरीरों में व्यापक है । जिन्होंने ब्रह्मचर्यादि व्रतों के तप द्वारा अपने शरीरों को तपाया नहीं है ऐसे कच्चे लोग उसके स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकते । जिन्होंने इन तपों द्वारा अपने आपको तपा लिया है ऐसे परिपक्व लोग ही अपनी जीवन यात्रा में उसके पवित्र रूप को प्राप्त कर सकते हैं ।

स्पष्ट ही यह सोम परमात्मा है ।

सोम सूक्तों में और भी अनेक वर्णन ऐसे आते हैं जो परमात्मा पर ही अच्छी तरह घट सकते हैं । अन्य सोमों पर वे भली प्रकार नहीं घट सकते ।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कई स्थलों पर सोम का अर्थ प्रजापति अर्थात् परमात्मा किया गया है । उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण में कहा है :—

1. सोमो हि प्रजापतिः । शत० 5.1.5.26.
2. सोमो ते प्रजापतिः । शत० 5.1.3.71.

इन सब प्रमाणों के आधार पर हमें वेद में सोम का एक अर्थ परमात्मा भी

अवश्य करना होगा।

सोम शब्द षु धातु से बनता है। इस धातु के प्रसव, ऐश्वर्य, प्रेरणा, स्नान करना और कराना, मसल कर रस निकालना, सत खेंचना, ये अर्थ होते हैं। जो प्रसव अर्थात् उत्पत्ति कर सकता हो, प्रेरणा दे सकता हो, स्वयं ऐश्वर्यवान् हो और औरों को ऐश्वर्य दे सकता हो, जिसने गुणों में स्नान कर रखा हो और जो औरों को अपने गुणों में स्नान करा सकता हो, जिसका रस और सत निकाला जाता हो, उसे सोम कहेंगे। इन्हीं गुणों की व्याख्या रूप में जिसमें शान्ति, मधुरता आदि शीतल प्रवृत्ति के गुण हों उसे भी सोम कहा जाता है। वेद के सोम-सूक्तों में सोम-तत्त्व का वर्णन कर दिया है। किस स्थल में किस प्रकार के सोम का वर्णन हुआ है इसका निर्णय सूक्त के सोम के विशेषणों और अन्य वर्णनों के आधार पर होगा। सोम के अनेक वर्णन ऐसे हैं जहाँ उसका प्रधान अर्थ परमात्मा ही हो सकता है। गौण वृत्ति से कोई दूसरा अर्थ भी भले ही हो सके।

## ब्राह्मणों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उनके वंश में निरन्तर ब्राह्मण ही उत्पन्न हों

यजुर्वेद के सातवें अध्याय के 46वें मन्त्र में निम्न वाक्य आता है :—

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यम्।
यजु० 7.46.

अर्थात्—आज मैं उस ब्राह्मण को प्राप्त करूँ जो पितृमान है अर्थात् जिसका पिता ब्राह्मण है, जो पैतृमत्य[1] अर्थात् पितृमान की सन्तान है अर्थात् ऐसे पिता की सन्तान है जिसका पिता ब्राह्मण था।

भाव यह है कि ऐसे ब्राह्मण को प्राप्त करूँ जिसके पिता, पितामह, प्रपितामह आदि सब ब्राह्मण रहे हैं। यों तो सभी पुरुषों के पिता, पितामह आदि की सत्ता के बिना किसी पुरुष की सत्ता ही नहीं हो सकती। फिर भी ब्राह्मण को इस मन्त्र में जो पितृमान् अर्थात् पितावाला और पैतृमत्य अर्थात् पिता वाले पिता वाला कहा है उसका विशेष भाव है। और वह भाव यह है कि ब्राह्मण के पिता और पितामह आदि भी ब्राह्मण होने चाहिए। ब्राह्मण असल में पिता, पितामह वाला तब होता है जबकि उसके पिता आदि भी ब्राह्मण हों। इसलिये हमने शब्दार्थ में पितृमान् और पैतृमत्य का यह अर्थ कर दिया है कि जिसके पिता और पितामह आदि ब्राह्मण

[1] प्रशस्तजनकोत्पन्नः पितृमान् तदपत्यं पैतृमत्यः। यस्य पितामहादयः श्रोत्रियाः स पैतृमत्यः इति महीधरः।

हैं। उवट और महीधर ने भी इन शब्दों का ऐसा ही अर्थ किया है। मन्त्र में ऐसे ब्राह्मण की कल्पना की गई है जिसके पिता और पितामह आदि भी ब्राह्मण हैं। इस मन्त्र से यह ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मणों को ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिए कि उनके वंश में निरन्तर ब्राह्मण ही उत्पन्न हों। और फिर ब्राह्मण के उदाहरण से यह भी भाव निकल आयेगा कि अन्य वर्णों को भी ऐसा प्रयत्न निरन्तर करते रहना चाहिए कि उनके वंश में उसी वर्ण के व्यक्ति उत्पन्न होते रहें। तात्पर्य यह है कि अपने वंश में वर्ण का ह्रास न होने पाये ऐसा यत्न प्रत्येक वंश को निरन्तर करते रहना चाहिए।

वेद के इस मन्त्र से यह भी भाव निकलता है कि वर्ण जन्म पर नहीं, गुण, कर्म और स्वभाव पर आश्रित है। यदि जन्म पर वर्ण आश्रित हो तब तो प्रत्येक ब्राह्मण का पिता ब्राह्मण है ही। फिर ऐसा ब्राह्मण जिसका पिता और पितामह ब्राह्मण हो अन्वेषण करने की क्या आवश्यकता है। जन्म की वर्णव्यवस्था होने पर तो किसी ब्राह्मण के पिता, प्रपिता आदि सभी ब्राह्मण ऐसे होंगे। हाँ, गुण कर्म की वर्णव्यवस्था में सभी ब्राह्मणों का ऐसा होना आवश्यक नहीं है। वहाँ ऐसे भी बहुत ब्राह्मण हो सकते हैं जिनके पिता आदि ब्राह्मण न रहे हों—जिनके पिता आदि क्षत्रिय, वैश्य आदि रहे हों। इसलिये इस मन्त्र से यह भी स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वर्णव्यवस्था गुण, कर्म से होनी चाहिए, जन्म से नहीं।

प्रतीत होता है ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि में यह जो लिखा है कि 'इन गुण-कर्मों के योग से ही चारों वर्ण हों तो उस कुल, देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे, और जिन का जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण, कर्म, स्वभाव हों तो अति विशेष है,' वह इसी वेदमन्त्र के आधार पर लिखा है।

## प्रजा के लोगों को ब्राह्मणों की पालना करनी चाहिए

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड में निम्न मन्त्र आता है—

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात्कामदुधा म एषा।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥

अथ० 11.1.28.

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(इदं) यह (मे) मेरा (ज्योतिः) चमकता हुआ (अमृतं)[1] मृत्यु से बचाने वाला (हिरण्यं) सुवर्ण (क्षेत्रात्) खेत से आया हुआ (पक्वं) पका हुआ अनाज (एषा)

[1] नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तत्।

यह (मे) मेरी (कामदुधा) कामना पूरी करने वाली दुधारू गाय (इदं) यह (धनं) धन (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में (निदधे) देता हूँ, और इस प्रकार (पितृषु) पालना करने वाले लोगों में (यः) जो (स्वर्गः) सुख की ओर ले जाने वाला (पन्थां) मार्ग है उसको (कृण्वे) बनाता हूँ।

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें ब्रह्मौदन का वर्णन है। गृहस्थ दम्पति ब्राह्मणों को खिलाने के लिए ओदन अर्थात् भात तैयार कर रहे हैं। यहाँ ओदन उपलक्षण है। ब्रह्मौदन से तात्पर्य ब्राह्मणों की पालना करने वाली सामग्री से है। सूक्त के उपदेश का आशय यह है कि गृहस्थ नर-नारियों को अपने राष्ट्र के ब्राह्मणों की सब तरह से पालना करनी चाहिए। ब्राह्मणों को ब्रह्मौदन खिलाने से—ब्राह्मणों की पालना करने से—क्या फल मिलते हैं इसका वर्णन भी सूक्त में किया गया है। प्रसंग से और भी कितनी ही बातों का उपदेश वहाँ किया गया है। उसी प्रसंग में यह मन्त्र आया है।

मन्त्र में कहा गया है कि सुवर्ण, अनाज, गौवें तथा और भी जितने प्रकार का धन है वह सब गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे ब्राह्मणों को देते रहें। इस प्रकार जो गृहस्थ ब्राह्मणों की पालना करते हैं वे पितर अर्थात् पालक हो जाते हैं। और पालक लोगों का जो सुखदायी मार्ग है उसे अपने लिए प्रशस्त बनाते हैं। अर्थात् ब्राह्मणों की आवश्यकताओं को पूरा करके उनकी पालना करने वाले गृहस्थ इस लोक और परलोक में स्वर्ग में रहते हैं अर्थात् अत्यधिक सुख की अवस्था में रहते हैं।

मन्त्र में सुवर्ण को अमृत कहा है। अमृत का अर्थ है जो मृत्यु न होने दे। सुवर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करने द्वारा मृत्यु से बचाता है। इसलिये वह अमृत है। सुवर्ण अनेक रोगों की औषध भी है। इस प्रकार रोग निवारक होने से भी वह अमृत है।

## ब्राह्मण को सम्पत्ति का संग्रह नहीं करना चाहिए

मन्त्र में ब्राह्मणों की पालना का भार गृहस्थ नागरिकों पर डाला गया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मणों को अपना जीवन सम्पत्ति कमाने में नहीं लगाना चाहिए और न ही उन्हें भविष्य के विचार से बहुत सी धन-सामग्री का संग्रह करके रखना चाहिए। मनुस्मृति आदि आर्य-साहित्य के ग्रन्थों में ब्राह्मण की सम्पत्ति-रहितता के सम्बन्ध में जो मार्मिक वर्णन पाये जाते हैं वह मालूम होता है वेद के इस और ऐसे ही अन्य वर्णनों के आधार पर ही किये गये हैं। और यह ठीक भी है। यदि ब्राह्मण सम्पत्ति संग्रह में पड़ जायेगा तो वह लोभ-लालच, संभालने की चिन्ता आदि में पड़कर अपने आदर्श से गिर जायेगा। फिर वह ज्ञान के, सत्य के, न्याय और

धर्म के रक्षण का जो व्रत उसने लिया है उसमें पूरा न उतर सकेगा। इसलिये ब्राह्मणों के भली-भांति पालन की चिन्ता राष्ट्र के लोगों को करनी चाहिए और राष्ट्र में ज्ञान, सत्य, न्याय और धर्म के प्रचार एवं रक्षा की चिन्ता ब्राह्मणों को करनी चाहिए। तभी राष्ट्र उन्नति कर सकता है।

## ब्राह्मण राजनीति के भी पण्डित हों

ब्राह्मणों को राजनीति का पण्ड़ित भी होना चाहिए वेद के अध्ययन से यह भी अवगत होता है। निम्न मन्त्र देखिये—

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा ओकांसि चक्रिरे ।।

ऋग्० 1.40.5; यजु० 34.57.

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है :—

(ब्रह्मणस्पतिः) वेदज्ञ ब्राह्मण (नूनं) निश्चय ही (उक्थ्यं) प्रशंसनीय (मन्त्रं) विचार को (प्रवदति) उत्तम रीति से कहता है (यस्मिन्) जिस विचार में (इन्द्रः) इन्द्र (वरुणः) वरुण (मित्रः) मित्र (अर्यमा) और अर्यमा, ये सब राज्याधिकारी लोग (ओकासि) निवास (चक्रिरे) करते हैं।

इन्द्र का अर्थ सम्राट् होता है यह हम जानते ही हैं। वरुण आदि के स्वरूप पर हमने प्रथम भाग के सोलहवें अध्याय में विचार किया है। यहाँ इन्हें राज्य के विभिन्न अधिकारी शासक समझ लेना पर्याप्त है। वेदज्ञ ब्राह्मण इन सब राज्याधिकारियों को विचार देता है। ब्राह्मण के दिये मन्त्र में—विचार में—ये राज्याधिकारी लोग इस प्रकार सुरक्षित रहते हैं जैसे कोई अपने ओकस्—घर—में सुरक्षित रहता है। ब्राह्मण का बताया विचार इन राज्याधिकारियों की दीवार बनकर रक्षा करता है। ब्राह्मण के बताये विचार पर चलने वाले राज्याधिकारियों की दुर्गति और नाश नहीं हो सकते।

ब्राह्मण इन्द्रादि राज्याधिकारियों को जो विचार देगा वह उनके राज्य-पालन के कर्तव्य से—राजनीति से—ही सम्बन्ध रखेगा। इस प्रकार इस मन्त्र में स्पष्ट है कि ब्राह्मणों को राजनीति का पण्डित भी होना चाहिए। ब्राह्मणों से मार्ग-प्रदर्शित राजनीति धूर्तता की नीति न रहकर सच्ची राजनीति हो जायेगी। वह धर्मनीति—विश्व के कल्याण की नीति हो जायेगी।

## राजाओं को ब्राह्मणों का सत्कार और पालन करना चाहिए

वेद के स्वाध्याय से यह भी ज्ञात होता है कि किसी भी राज्य के राजाओं

को—राज्यकर्मचारियों को—ब्राह्मणों का मान-सत्कार करना चाहिए। उन्हें आदर देना चाहिए और सब प्रकार से उनकी पालना करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये :—

1. स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्॥

ऋग्० 4.50.7.

2. स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥

ऋग्० 4.50.8.

3. अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः।

ऋग्० 4.50.9.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है:—

(1) (सः) वह (इत्) ही (राजा) राजा (विश्वा) सब (प्रतिजन्यानि) युद्ध करने वाली शत्रु सेनाओं का (शुष्मेण) बल से (वीर्येण) और पराक्रम से (अभितस्थौ) सामना कर सकता है (यः) जो (बृहस्पति) ब्राह्मण की (सुभृतं) भली प्रकार भरण-पोषण करके (बिभर्ति) पालना करता है (वल्गूयति) स्तुति करता है (वन्दते) उसको नमस्कार करता है (पूर्वभाजं) प्रत्येक बात में उसे पहले पूछा जाने वाला बनाता है। (2) (सः) वह (इत्) ही (सुधितः) अच्छे प्रकार तृप्त होकर (स्वे) अपने अपने (ओकसि) घर में (क्षेति) निवास करता है (तस्मै) उसके लिए (इळा) भूमि (विश्वदानीम्) सदा (पिन्वते)[1] समृद्ध होती है (तस्मै) उसके लिए (विशः) प्रजायें (स्वयं) अपने आप (एव) ही (नमन्ते) झुकी रहती हैं (यस्मिन्) जिस (राजनि) राजा के यहाँ (ब्रह्मा) ब्राह्मण (पूर्वः) आगे (एति) चलता है। (3) (यः) जो (राजा) राजा (अवस्यवे) रक्षा चाहने वाले (ब्रह्मणे) ब्राह्मण के लिये (वरिवः) धन (कृणोति) देता है, वह राजा (अप्रतीतः) शत्रुओं के विरोध से रहित होकर (धनानि) धनों को (संजयति) भली प्रकार जीतता है (प्रति जन्यानि)[2] शत्रुओं द्वारा किये जाने वाले युद्धों को, और (सजन्यानि) अपने राष्ट्र के लोगों द्वारा किये जाने वाले युद्धों अर्थात् विरोधों को भी (सं जयति) भली प्रकार जीत लेता है। (तं) उसकी (देवाः) राष्ट्र के विविध व्यवहारशील विद्वान्, राजकर्मचारी गण, और अग्नि, वायु आदि देव (अवन्ति) रक्षा करते हैं।

[1] वर्धते इति सायणः।

[2] जन्यं युद्धम्।

प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मण का भरण-पोषण करे और इस प्रकार भरण-पोषण करे कि ब्राह्मण सुभृत हो जाये। उसकी प्रत्येक आवश्यकता अच्छी तरह पूरी हो जाये। इसके साथ ही राजा का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण की स्तुति किया करे—प्रशंसा किया करे और उसको नमस्कार किया करे। इतना ही नहीं राजा का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण को प्रत्येक बात में पूर्वभाक् बनाये। प्रत्येक बात में उसे पहले पूछे। सभा-समाजों में उसे अगला और उच्च स्थान दे। विचार के समय उसकी बात को सबसे अधिक महत्त्व दे। अपने सुख और आराम से पहले ब्राह्मण के सुख और आराम की चिन्ता करे। द्वितीय मन्त्र में कहा है कि राजा के यहाँ ब्राह्मण को आगे चलना चाहिए। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात का नेता ब्राह्मण को होना चाहिए। राजा को प्रत्येक बात ब्राह्मण की सलाह से करनी चाहिए। तृतीय मन्त्र में कहा है कि जब ब्राह्मण अवस्यु हो, रक्षा चाहता हो, जब उसे अपने पालन-पोषण के लिये किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मण को धन देकर उसकी उस आवश्यकता को पूरा करे।

जो राजा ब्राह्मणों का इस प्रकार मान-सत्कार करता है उसे मन्त्रों में कहे हुए सब मंगल प्राप्त होते हैं। वह राष्ट्र के बाहर और भीतर के सब शत्रुओं को जीत लेता है, वह राजसिंहासन पर और राजगृह में सुरक्षित रहता है। राज्य की भूमि समृद्ध होकर उसके लिए खूब अनाज, फल-फूल और खनिज पदार्थों को उगलती है। राष्ट्र की सब प्रजायें स्वयं प्रसन्नता से उसके अधीन रहना पसन्द करती हैं। जड़ और चेतन सब देवों से उसे रक्षा प्राप्त होती है।

ब्राह्मणों का जो चित्र ऊपर के पृष्ठों में खींचा गया है उसमें दिखाये गये ज्ञान और चरित्र के धनी ब्राह्मणों का मान जिस राजा के राज्य में होगा और उनकी सलाह के अनुसार जो राजा चलेगा उसके राज्य का सर्वथा निष्कण्टक और अभ्युदयशाली होना तो आवश्यक ही है।

## ब्राह्मण के जीवन का महान् और कठोर आदर्श

इस प्रकरण में हमने ऊपर वेद का आदेश देखा है कि प्रजा के लोगों को ब्राह्मणों का पालन-पोषण करना चाहिए। इस उपखण्ड में हम देख रहे हैं कि राजा का भी यह कर्तव्य है कि वह ब्राह्मणों की पालना और पोषणा करे। इस प्रकार राजा और प्रजा सभी को अपने राष्ट्र के ब्राह्मणों की पालना-पोषणा और आदर-सत्कार करना चाहिए। ब्राह्मण का जीवन बिताना बड़ा कठिन कर्म है। ब्राह्मण ने किसी प्रकार की सम्पत्ति और ऐश्वर्य का संग्रह नहीं करना है। उसने स्वयं स्वीकृत धन हीनता का, गरीबी का, जीवन व्यतीत करना है। उसका जीवन तपस्या और

संयम का होना है। उसने अपने जीवन में ऊँची से ऊँची पवित्रता लानी है। ज्ञान के संग्रह और प्रसार में उसने लगे रहना है। सत्य, न्याय और धर्म के प्रचार और स्थापना में उसने अपना जीवन भी स्वाहा कर देने के लिए उद्यत रहना है। अपने शत्रुओं के प्रति भी उसने अपने मन में द्वेष के भाव नहीं आने देने हैं। प्राणीमात्र के कल्याण की कामना उसने रखनी है। सब जगत के लिए प्रेम और उपकार के भाव उसने अपने हृदय में रखने हैं। पूर्ण अहिंसा का—प्रेम, उपकार और सहनशीलता का—जीवन उसने बिताना है। ऐसा ऊँचा और कठिन जीवन बिताने के लिए राष्ट्र के बहुत कम लोग आगे आयेंगे। पर राष्ट्र के कल्याण के लिए ऐसा जीवन बिताने वाले लोगों का मिलते रहना नितान्त आवश्यक है। राजा और प्रजा द्वारा इस प्रकार का—ब्राह्मण का—जीवन बिताने वाले लोगों का मान-सत्कार और उनके भरण-पोषण की चिन्ता होते रहने का परिणाम यह होगा कि जनता के बहुत से लोग इस जीवन की ओर आकृष्ट हो सकेंगे। राजा और प्रजा ब्राह्मण पर कृपा करने के लिए उसका आदर-सत्कार और भरण-पोषण नहीं करते। वे तो अपने कल्याण के लिए, अपने हित के लिए—राष्ट्र के भले के लिए—ऐसा करते हैं। नहीं तो, ब्राह्मण का क्या है, वह भी और लोगों की भाँति धन कमाने और अपने पेट की पूर्ति के साधन संजोने में पड़ जायेगा। पर इससे राष्ट्र का बहुत अकल्याण होगा। इसलिए राजा और प्रजा को अपना धर्म समझकर ब्राह्मणों का मान-सत्कार और भरण-पोषण करना चाहिए।

इस प्रकार राज्य सम्बन्धी निर्णयों में ब्राह्मणों की सम्मति का सर्वोपरि महत्त्व है। जिन ब्राह्मणों को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है वे किस प्रकार के लोग होते हैं यह जान लेना आवश्यक था। इसलिये हमने ब्राह्मण के सम्बन्ध में इस अध्याय में इतना विस्तार से लिखा है। जो कुछ यहाँ लिखा गया है वेद में ब्राह्मणों के सम्बन्ध में उससे कहीं अधिक वर्णन पाये जाते हैं। उन सबका यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं था। यहाँ कुछ मोटी-मोटी बातें ही ब्राह्मणों के सम्बन्ध में लिखी गयी हैं। उनसे पाठकों को अनुमान हो जायेगा कि वेद किस प्रकार के लोगों को ब्राह्मण कहता है। ब्राह्मण के सम्बन्ध में अधिक जानना चाहने वाले लोगों को वेद और तदनुकूल साहित्य का स्वयं सीधा अध्ययन करना चाहिए।

## ब्राह्मणों के गुणों पर ऋषि दयानन्द

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए, ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में वेद और अन्य आर्य शास्त्रों के आधार पर ब्राह्मणों के जो गुण दिखाये हैं उन पर दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। ऋषि ने लिखा है—

'ब्राह्मण के पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना, लेना, ये छः कर्म[1] हैं। परन्तु (प्रतिग्रह) लेना नीच कर्म है। (शमः) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी और उसको अधर्म में कभी प्रवृत्त न होने देना, (दमः) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोककर धर्म में चलाना, (तपः) सदा ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय होकर धर्मानुष्ठान करना, (शौच) भीतर राग-द्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूरकर शुद्ध रहना अर्थात् सत्यासत्य के विवेक पूर्वक [सत्य के] ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय पवित्र होता है, (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा स्तुति, सुख, दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा, हानि-लाभ, मानापमान आदि हर्ष, शोक छोड़कर धर्म में दृढ़ निश्चय रहना, (आर्जव) कोमलता, निरभिमान, सरलता, सरल स्वभाव रखना, कुटिलता आदि दोष छोड़ देना, (ज्ञान) सब वेदादि शास्त्रों को सांगोपांग पढ़कर पढ़ाने का सामर्थ्य, विवेक-सत्य का निर्णय, जो वस्तु जैसी हो अर्थात् जड़ को जड़ और चेतन को चेतन जानना और मानना, (विज्ञान) पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना, (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व-परजन्म, धर्म, विद्या, सत्संग, माता, पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना। ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहिए।'[2]

[1] मनु० 1 88 के आधार पर।

[2] ऋषि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, चौथा समुल्लास। गीता 18.42 के आधार पर।

# क्षत्रिय वर्ण

अब लीजिये क्षत्रियों के गुणों और कर्तव्यों को। इन्द्र, वरुण, मित्र, पूषा, अग्नि आदि देवताओं को वेद में स्थान-स्थान पर आदित्य नाम से भी कहा गया है और आदित्यों को अनेक स्थान पर क्षत्रिय कहा गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का निम्न मन्त्र देखिए—

त्यान् नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान् याचिषामहे।
सुमृळीकाँ अभिष्टये ॥

ऋग्० 8.67.1.

अर्थात्—(अभिष्टये) अभीष्ट सुखों की प्राप्ति के लिए (सुमृळीकान्) उत्तम सुख देने वाले (त्यान्) उन (क्षत्रियान्) क्षत्रिय (आदित्यान्) आदित्यों से (अव याचिषामहे) हम याचना करें।

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसका देवता आदित्य है। और सूक्त में मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र और अदिति इन देवताओं के नाम आये हैं। इसी प्रकार अन्य स्थलों में पूषा, भग, अंश आदि अन्य देवताओं को आदित्य और क्षत्रिय कहा गया है। पाठकों को यहाँ इतना समझ लेना पर्याप्त है कि इन्द्र आदि देव आदित्य और क्षत्रिय हैं। इसलिये इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि देवों के गुणों और कर्तव्यों को क्षत्रियों के गुण और कर्तव्य समझना चाहिए। उदाहरण के रूप में क्षत्रियों के गुणों की ओर निर्देश करने के लिए अथर्ववेद का मन्त्र यहाँ उद्धृत कर देते हैं—

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रंधयास्मा अहमुत्तरेषु ॥

अथ० 4.22.1.

हे (इन्द्र) प्रभो! (इमं क्षत्रियं) इस क्षत्रिय को (वर्धय) बढ़ा। (त्वं) तू (इमं) इसको (मे विशां एकवृषं) मेरी प्रजाओं में अद्वितीय बलिष्ठ (कृणु) कर। (अस्य अमित्रान्) इसके शत्रुओं को (निरक्ष्णुहि) निर्बल कर दे। (अहमुत्तरेषु) स्पर्द्धा के अंदर (तान्

सर्वान्) उन सब शत्रुओं को (रंधय) नाश कर।

राष्ट्र में क्षत्रियों की शक्ति बढ़ानी चाहिए। राष्ट्र अद्वितीय क्षात्र बल से युक्त करना चाहिए जिससे स्पर्द्धा के समय सब अन्य शत्रु परास्त हो जायें।

## क्षत्रियों का काम राष्ट्र की रक्षा करना है

क्षत्रियों को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। वेद का स्वाध्याय करते हुए क्षत्रियों का एक यह प्रधान कर्तव्य प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य। ऋग्० 10.109.3; अथ० 5.17.3.
2. नि षेदतुः साम्राज्याय⋯क्षत्रिया। ऋग्० 8.25.8.
3. क्षत्राय राजन्यम्। यजु० 30.5.

अर्थात्—(1) इस प्रकार क्षत्रिय का राष्ट्र रक्षित रहता है। (2) मित्र और वरुण ये दोनों क्षत्रिय साम्राज्य के लिए, उसकी रक्षा के लिए, अपने अधिकार-पदों पर बैठते हैं। (3) सबके उत्पादक परमात्मा ने क्षत्रिय (राजन्यं) को क्षत्र अर्थात् राष्ट्र की रक्षा के लिए बनाया है।

## क्षत्रियों को धृतव्रत होना चाहिए

1. धृतव्रता क्षत्रिया। ऋग्० 8.25.8.
2. धृतव्रताः क्षत्रिया। ऋग्० 10.66.8.

इन मन्त्रों में क्षत्रियों को धृतव्रत कहा है। व्रत के कई अर्थ होते हैं। ब्रह्मचर्यादि व्रतों को भी व्रत कहते हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्यादि व्रतों को धारण किया है उन्हें धृतव्रत कहा जायेगा। उत्तम कर्मों और नियमों को भी व्रत कहते हैं। जो राष्ट्र में उत्तम कर्मों और नियमों को धारण करते हैं उन्हें धृतव्रत कहा जायेगा। क्षत्रियों को अपने जीवन में और राष्ट्र में उत्तम व्रतों का धारण करने वाला होना चाहिए।

## क्षत्रियों को सत्य का रक्षक होना चाहिए

क्षत्रियों के सम्बन्ध में वेद में कहा है—

1. ऋतावाना⋯क्षत्रिया। ऋग्० 8.25.8.
2. ऋतस्य गोपा⋯क्षत्रिया। ऋग्० 7.64.2.
3. ऋतसापः क्षत्रिया। ऋग्० 10.66.8.

4. ऋतस्य वो रथ्यः पूतदक्षानृतस्य पस्त्यसदः। ऋग्० 6.51.9.

5. ऋतधीतयो वक्मराजसत्याः। ऋग्० 5.51.10.

अर्थात्, (1) क्षत्रिय ऋतवान् अर्थात् सत्य पर चलते हैं। (2) क्षत्रिय ऋत के, सत्य के गोपा अर्थात् रक्षक होते हैं। (3) क्षत्रिय ऋतसाप अर्थात् सत्य से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। (4) हे वरुण, मित्र, इन्द्र आदि देवो तुम ऋत अर्थात् सत्य के रथ पर चलने वाले (रथ्यः) हो, तुम ऋत के घर में रहने वाले (पस्त्यसदः) हो। (5) वे इन्द्र, वरुण आदि देव सत्य के धारण करने वाले (ऋतधीतयः) हैं और वचन के धनिकों में सत्य का पालन करने वाले (वक्मराजसत्याः) हैं।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि क्षत्रियों को सत्य का पालन करने वाला और रक्षक होना चाहिए।

## क्षत्रियों को राष्ट्र में ही हिंसा मिटा देनी चाहिए

क्षत्रियों के सम्बन्ध में वेद में अन्यत्र कहा है—

1. रिशादसः सत्पतीन्। ऋग्० 6.51.4.

2. सुक्षत्रासो रिशादसः। ऋग्० 1.19.5.

3. को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्।
अथ० 7.103.1.

4. अनर्वाणो ह्येषां पन्था आदित्यानाम्। ऋग्० 8.18.2.

5. व्रता रक्षन्ते अद्रुहः। ऋग्० 8.67.13.

6. ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। ऋग्० 8.67.14.

अर्थात्, (1) ये आदित्य लोग—क्षत्रिय लोग—हिंसकों को मारने वाले (रिशादसः) हैं और भले लोगों के रक्षक हैं (सत्पतीन्)। (2) ये उत्तम क्षत्रिय और उत्तम बल वाले (सुक्षत्रासः) सैनिक लोग (मरुतः) हिंसकों को मारने वाले (रिशादसः) हैं। (3) (वस्यः) प्रशस्त धन (इच्छन्) देने की इच्छा वाला (कः) कौन (क्षत्रियः) क्षत्रिय (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) निन्दनीय बातों से युक्त (द्रुहः)[1] हिंसा से (नः) हमारा (उन्नेष्यति) उद्धार करेगा। (4) इन आदित्यों के—क्षत्रियों के—मार्ग हिंसा रहित (अनर्वाणः) हैं। (5) ये आदित्य—क्षत्रिय—द्रोह रहित, हिंसा रहित, होकर व्रतों की रक्षा करते हैं। (6) हे आदित्यो—क्षत्रियो—वे तुम हमें हिंसक लोगों के (वृकाणाम्) मुख से छुड़ाओ।

इन मन्त्रों के वर्णनों से स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोग स्वयं किसी से द्रोह नहीं करते क्योंकि वे 'अद्रुहः' हैं। वे स्वयं किसी की हिंसा नहीं करते क्योंकि वे अनर्वा

[1] द्रुह जिघांसायाम्। इति सायणः।

हैं। जो औरों की हिंसा करते हैं, जो औरों से द्रोह करते हैं, जो औरों को खाना चाहते हैं, उन्हें क्षत्रिय मारते हैं, क्षत्रिय हिंसकों को मारते हैं जिससे वे किसी की हिंसा न कर सकें। क्षत्रिय राष्ट्र में से हिंसा को मिटाना चाहते हैं जिससे कि सब लोग अहिंसा का (किसी को कष्ट न देवे और सबके साथ उपकार करने का) जीवन व्यतीत कर सकें। उनकी हिंसा अहिंसा के लिए है।

## क्षत्रियों को राष्ट्र में ही भाँति-भाँति के पाप मिटा देने चाहिए

क्षत्रियों के सम्बन्ध में और स्थानों पर वेद में कहा है—

1. त उ नस्तिरो विश्वानि दुरिता नयन्ति। ऋग्० 6.51.10.
2. अनागास्त्वे····दधतु। ऋग्० 7.51.1.
3. आदित्यासो युयोतना नो अंहसः। ऋग्० 8.18.10.

अर्थात्, (1) वे आदित्य—क्षत्रिय—हमसे सब पापों को (दुरिता) दूर करते हैं। (2) वे आदित्य—क्षत्रिय—हमें निष्पापत्व में (अनागास्त्वे) धारण करें अर्थात् निष्पाप बनायें। (3) हे आदित्यो—क्षत्रियो—हमें पाप से (अंहसः) छुड़ाओ।

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि क्षत्रियों का काम राष्ट्र के लोगों को पाप से छुड़ाना है। वे जो दण्ड हाथ में धारण करते हैं उसका उद्देश्य लोगों को पाप के कर्मों से दूर रखना होता है।

## क्षत्रियों को ज्ञानी होना चाहिए

1. आदित्यासः कवयः। ऋग्० 3.54.10.
2. ताँ····उरुचक्षसो नॄन्। ऋग्० 6.51.9.
3. अयं मित्रो····सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः। ऋग्० 3.59.4.

इन मन्त्रों को देखिये। इनका अर्थ है—

(1) आदित्य लोग—क्षत्रिय लोग—कवि हैं अर्थात् हरेक बात का गहरा ज्ञान रखने वाले क्रान्तदर्शी ज्ञानी हैं। (2) वे इन्द्र आदि देव महान् ज्ञान रखने वाले (उरुचक्षसः) मनुष्य (नॄन्) हैं। (3) यह मित्र नामक राज्याधिकारी उत्तम क्षत्रिय और उत्तम बलवाला (सुक्षत्रः) और निर्माण की शक्ति रखने वाला ज्ञानी (वेधाः) बना है।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि क्षत्रियों को भाँति-भाँति का ज्ञान सीखकर गहरा ज्ञानी बनना चाहिए।

## क्षत्रियों को बलशाली होना चाहिए

क्षत्रियों को बलशाली होना चाहिए। इस सम्बन्ध में वेद में कहा है—

1. दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु । ऋग्० 7.18.25.

2. अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत । ऋग्० 7.66.11.

अर्थात्, (1) हे सैनिको (मरुतः) तुम्हारा बल (क्षत्रं) नाश न होने योग्य और जीर्ण न किया जा सकने योग्य तथा राष्ट्र की परिचर्या—सेवा—करने वाला (दुवोयु)[1] हो । (2) वरुण, मित्र, अर्यमा, ये आदित्य लोग औरों से प्राप्त न किया जा सकने वाला (अनाप्यं) बल (क्षत्रं) धारण करते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि क्षत्रियों को बड़ा बली होना चाहिए । बल के बिना वे अपने युद्धादि के पराक्रम के कार्य नहीं कर सकते ।

## क्षत्रियों को तेजस्वी होना चाहिए

क्षत्रियों को तेजस्वी होना चाहिए ऐसा वेद में स्थान-स्थान पर कहा है। उदाहरण के लिए देखिये—

1. ते हि श्रेष्ठवर्चसः । ऋग्० 6.51.10.
2. अदब्धान् । ऋग्० 6.51.4.
3. ये शुभ्रासो घोरवर्पसः । ऋग्० 7.19.5.
4. अदब्धाः सन्ति पायवः । ऋग्० 8.18.2.
5. ये अदब्धासः स्वयशसः । ऋग्० 8.67.13.
6. राजन्ये (या त्विषिः) सा न देवी ऐतु । अथ० 6.38.4.

अर्थात्, (1) वे इन्द्र आदि आदित्य देव श्रेष्ठ तेज वाले हैं । (2) वे किसी से दबते नहीं हैं । (3) सैनिक लोग (मरुतः) जो कि शुभ्र वर्ण वाले और शत्रुओं के लिए डरावने तेजस्वी रूप वाले हैं । (4) ये आदित्य—क्षत्रिय—किसी से न दबने वाले रक्षक हैं । (5) जो आदित्य—क्षत्रिय—लोग किसी से न दबने वाले और अपने यश से यशस्वी हैं । (6) क्षत्रिय में (राजन्ये) जो प्रताप होता है वह दिव्य प्रताप हममें आवे ।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि क्षत्रियों को किसी से न दबने वाला तेजस्वी होना चाहिए ।

## क्षत्रियों को निर्भय होना चाहिए

क्षत्रियों को निर्भय होना चाहिए ऐसा वेद में स्थान-स्थान पर कहा है । उदाहरण के लिए अग्रांकित मन्त्र देखिये—

[1] परिचरणकाम इति सायणः ।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

अथ० 2.15.4.

अर्थात्—जिस प्रकार ब्राह्मण (ब्रह्म) और क्षत्रिय (क्षत्रं) न किसी से डरते हैं और न हिंसित होते हैं ।

इस मन्त्र में साफ कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों को किसी से डरना नहीं चाहिए । उन्हें सर्वथा निर्भय रहना चाहिए ।

## क्षत्रियों को शूर और शस्त्रास्त्र में निपुण होना चाहिए

क्षत्रियों को शूर-वीर और शस्त्रास्त्र में कुशल होना चाहिए । ऐसा स्थान-स्थान पर कहा है । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र-खण्ड देखिये—

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।

यजु० 22.22.

अर्थात्—हे परमात्मा हमारे राष्ट्र में शूर-वीर, बाण चलाने में निपुण, शत्रु पर गहरा प्रहार करने वाले बड़े-बड़े रथों पर चढ़कर शत्रुओं से लड़ने वाले क्षत्रिय (राजन्यः) उत्पन्न हों ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि क्षत्रियों को शूर-वीर और युद्ध-विद्या में निपुण होना चाहिए ।

## क्षत्रियों को सदा प्रजाओं को प्रसन्न रखना चाहिए

प्रजाओं को भली प्रकार रक्षा और पालन-पोषण करके क्षत्रियों को सदा उन्हें प्रसन्न रखना चाहिए वेद में ऐसा अनेक स्थानों पर कहा गया है । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. त्यान् नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान् याचिषामहे ।
   सुमृळीकाँ अभिष्टये ॥ ऋग्० 8.67.1.
2. अयं मित्रो सुशेवः । ऋग्० 3.59.4.
3. आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शंतमेन । ऋग्० 7.51.1.
4. स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः । ऋग्० 5.51.12.
5. आदित्यासो····मादयन्ताम् । ऋग्० 7.51.2.
6. सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत । अथ० 15.8.1.

अर्थात्, (1) अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिए, उत्तम सुख देने वाले उन क्षत्रिय आदित्यों से हम याचना करें । (2) यह मित्र देव—आदित्य—उत्तम सुख देने वाला

है। (3) हम आदित्यों—क्षत्रियों—की रक्षा द्वारा (अवसा) अत्यन्त शान्ति देने वाले (शन्तमेन) नये-नये सुख और कल्याण से (शर्मणा) युक्त होंवे। (4) आदित्य—क्षत्रिय—लोग हमारी स्वस्ति अर्थात् उत्तम स्थिति के लिए, कल्याण के लिए, होवें। (5) आदित्य—क्षत्रिय—लोग हमें हर्षित करें। (6) वह क्योंकि प्रजा का रंजन करता है इसलिए राजन्य (क्षत्रिय राजा) कहलाता है।

इन मन्त्रों के वर्णन से स्पष्ट है कि प्रजा की रक्षा और सुख-समृद्धि बढ़ाकर उसका रंजन करना—उसको प्रसन्न करना—क्षत्रियों का प्रधान कर्तव्य है।

## क्षत्रियों को राष्ट्र में उत्तम नीति चलानी चाहिए

क्षत्रियों को अपने राष्ट्र में सदा उत्तम नीति चलानी चाहिए। इस सम्बन्ध में वेद में अनेक स्थानों पर उपदेश किया गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. आदित्यासो नयथा सुनीतिभिः। ऋग्० 10.63.13.
2. सुवसनस्य दातॄन् आदित्यान् यामि। ऋग्० 6.51.4.
3. ते न इन्द्रः पृथिवी क्षाम वर्धन् पूषा भगो अदितिः पञ्च जनाः।
   सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः॥
   ऋग्० 6.51.11.
4. आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि। ऋग्० 10.65.11.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे आदित्य—क्षत्रिय—लोगों हमें उत्तम नीतियों के द्वारा (सुनीतिभिः) चलाओ। (2) उत्कृष्ट निवास के (सुवसनस्य) देने वाले आदित्य—क्षत्रिय—लोगों को प्राप्त होता हूँ। (3) (इन्द्रः) सम्राट् और उसके (पूषा) पूषा (भगः) भग, आदि कर्मचारी (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (अदितिः) असीम राष्ट्रशक्ति (पञ्चजनाः) पाँचों जन (ते) वे सब (नः) हमारे (क्षाम) निवास को (वर्धन्) बढ़ावें, वे सब हमारे लिए (सुशर्माणः) सुन्दर सुख देने वाले (स्ववसः) अच्छी तरह रक्षा करने वाले (सुनीथाः) अच्छी तरह मार्ग दिखाने वाले (सुत्रात्रासः) अच्छी तरह पालना करने वाले, और (सुगोपाः) अच्छी तरह संभाल कर रखने वाले हों। (4) ये इन्द्र आदि देव पृथिवी पर आर्य व्रतों की रचना करने वाले हैं।

इन मन्त्रों में साफ कहा गया है कि इन्द्र आदि आदित्य—क्षत्रिय—देव लोगों को सुनीति पर चलाते हैं। वे लोगों को उत्तम नीतियों पर—जीवन बिताने के उत्तम मार्गों पर—चलाने के कारण उन्हें सुवसन अर्थात् उत्तम निवास प्रदान करते हैं। वे इन्द्रादि देव सुनीथ हैं—उत्तम मार्गों पर चलाने वाले हैं। वे उत्तम नीति पर चलाकर

लोगों को उत्तम निवास देते हैं, उत्तम सुख देते हैं, उत्तम रक्षा करते हैं, उत्तम पालना करते हैं और सभी प्रकार से उन्हें संभाल कर रखते हैं। जितने भी आर्य लोगों के, श्रेष्ठ लोगों के, व्रत हैं—नियम और कर्म हैं—उनकी ये इन्द्र आदि देव अपने राष्ट्र में रचना करते हैं, उन्हें बढ़ाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोगों को अपने राष्ट्र में सुनीति—उत्तम राजनीति—चलानी चाहिए। उनकी राजनीति में किसी प्रकार की मलिनता नहीं होनी चाहिए।

## क्षत्रियों को यज्ञ-यागादि करने चाहिए

क्षत्रियों को यज्ञ-यागादि करने वाला होना चाहिए ऐसा भी आदेश वेद में किया गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतः····अध्वराणामभिश्रियः। ऋग्० 10.66.8.
2. को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः।
अथ० 7.103.1.

इनका अर्थ इस प्रकार है—

(1) इन्द्र आदि क्षत्रिय लोग यज्ञ में जाने वाले (यज्ञनिष्कृतः)[1] हैं और हिंसारहित यज्ञों का (अध्वराणाम्)[2] सेवन करने वाले (अभिश्रियः)[3] हैं। (2) देवों में कौन यज्ञ की कामना वाला (यज्ञकामः) कौन पूर्ति की कामना वाला लम्बी आयु को देता है।

प्रथम मन्त्र में तो स्पष्ट ही क्षत्रियों को यज्ञ करने वाला कहा है। क्षत्रिय लोग हिंसारहित यज्ञों को करने वाले हैं ऐसा कहकर यह भी निर्देश कर दिया गया है कि क्षत्रियों को यज्ञों में हिंसा नहीं होने देनी चाहिए। दूसरे मन्त्र में भी यज्ञकाम शब्द क्षत्रिय के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में, जोकि ऊपर भी इसी प्रकरण के एक खण्ड में उद्धृत किया गया है, यह प्रश्न उठाया गया है कि कौन क्षत्रिय हमारा द्रोह से, हिंसा से, उद्धार करेगा। उसी प्रसंग में मन्त्र के इस उत्तरार्द्ध में प्रश्न पूछा गया है कि कौन यज्ञ-काम और कौन पूर्ति-काम हमें दीर्घ आयु देगा। उत्तरार्द्ध का यह कौन (कः) क्षत्रिय का ही परामर्श कर रहा है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ की कामना वाला—यज्ञ-यागादि करने की इच्छा वाला—क्षत्रिय ही अपने राष्ट्र के लोगों को दीर्घ आयु दे सकता है। इससे एक यह भी ध्वनि निकलती है कि राष्ट्र में यज्ञ-यागादि का प्रचार होने से लोगों की आयु की वृद्धि होती है। क्योंकि यज्ञादि कर्म एक विशेष

[1] यज्ञं प्रति निर्गमनं यज्ञनिः तस्य कर्तार इति सायणः।
[2] हिंसारहितानां यज्ञानामिति सायणः।
[3] अभिसेवकः इति सायणः। श्रिञ् सेवायाम्।

प्रकार से लोगों के शरीरों की पूर्ति करते हैं जिससे उनका स्वास्थ्य वृद्धि पाता है। इसीलिए यज्ञकाम क्षत्रिय को मन्त्र में पूर्ति-कामः भी कहा है।

## क्षत्रियों के गुणों पर ऋषि दयानन्द

इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में वेदादि शास्त्रों के आधार पर क्षत्रियों के गुणों की ओर जो निर्देश किया है उसे भी देख लेना चाहिए—

'न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़कर श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन (दान) विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना; (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना; (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़वाना और (विषयेषु) विषयों में न फँसकर जितेन्द्रिय रहकर सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना।[1] (शौर्य) सैंकड़ों-सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना, (तेजः) सदा तेजस्वी अर्थात् दीनता-रहित, प्रगल्भ, दृढ़ रहना, (धृति) धैर्यवान् होना, (दाक्ष्य) राजा और प्रजा सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना (युद्धे) युद्ध में दृढ़ निःशंक रहकर उससे कभी न हटना, न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चय विजय होवे, आप बचे, जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा भी करना, (दान) दानशीलता रखना, (ईश्वरभाव) पक्षपात रहित होकर सबके साथ यथा-योग्य बर्तना, विचार के देना, प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भंग होने न देना। ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं।'[2]

[1] मनु० 1.89 के आधार पर।

[2] ऋषि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, चौथा समुल्लास। गीता 18.43 के आधार पर।

# वैश्य वर्ण

अब आइये वैश्यों पर। हम पीछे देख आये हैं कि पुरुष सूक्त में वैश्य को शरीर के मध्य भाग से उपमा दी गई है। शरीर का मध्यभाग—पेट—जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग के लिए रस—भोजन—तैयार करके देता है उसी प्रकार जनता का जो भाग राष्ट्र के लिए भोजन-वस्त्रादि सामग्री तैयार करता है उसे वैश्य कहते हैं। भोजन-वस्त्रादि सामग्री खेती, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, लेन-देन आदि के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती और सब जनता तक पहुँच सकती है। इसलिए खेती, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, लेन-देन आदि सब काम वैश्य के कहे जाते हैं। संस्कृत में 'विश्' प्रजा को कहते हैं। यह शब्द प्रायः अपने 'विशः' इस बहुवचनान्त रूप में प्रयुक्त होता है जो विशः अर्थात् प्रजाओं के लिए साधु हो, हितकारी हो, उसे वैश्य[1] कहते हैं। वैश्य भोजन-वस्त्रादि सब प्रजा तक पहुँचाने द्वारा उसका हित करता है। इसलिए वह वैश्य है। वेद में वैश्य के लिए विश्य शब्द भी आता है। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। प्रजावाचक 'विश्' शब्द भी वैश्य के लिए बहुत बार प्रयुक्त हो जाता है। किसी भी राष्ट्र की प्रजा में सदा ही वैश्यों की बहुत अधिक संख्या रहेगी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की अपेक्षा सदा ही बहुत थोड़े रहेंगे। प्रजाओं का बहुत बड़ा भाग वैश्य होने के कारण वैश्यों को प्रजावाली विश् शब्द से भी कह दिया जाता है। लौकिक संस्कृत तक में विश् शब्द वैश्य के लिए भी प्रयुक्त होता है। यजुर्वेद के 30वें अध्याय के 5वें मन्त्र के—

मरुद्भ्यो वैश्यम्

वाक्य में वैश्यों के कर्तव्य की ओर एक भावगर्भ संकेत किया गया है। इस मन्त्रखण्ड में कहा गया है कि सबके उत्पादक सविता परमात्मा ने वैश्य को मरुतों के लिए बनाया है। मरुत् का शब्दार्थ होता है—मरने और मारने वाला। मनुष्य मरते भी रहते हैं और युद्ध आदि में लड़-झगड़कर एक-दूसरे को मारते भी रहते हैं। इसलिए मनुष्य मरुत् कहलाते हैं। वेद में सैनिकों को विशेष रूप से मरुत् कहा जाता है

[1] विशि साधुः विश्यः विश्य एव वैश्यः।

क्योंकि सैनिक मनुष्यों में मरने-मारने का गुण विशेष रूप से पाया जाता है। परन्तु इस वाक्य में मरुत् का अर्थ सैनिक न करके सामान्य मनुष्य ही करना होगा। क्योंकि जिस मन्त्र का यह वाक्य है उसमें 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्' (यजु० 30.5) ऐसा कहकर चारों वर्णों के कर्तव्य की ओर संक्षिप्त निर्देश किया गया। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं'—ब्राह्मण को ब्रह्म अर्थात् वेद और वेदोपलक्षित ज्ञान के लिए बनाया गया है। ब्राह्मण को ज्ञान संग्रह और प्रजाओं में उसके प्रचार का काम करने के लिए बनाया गया है। 'क्षत्राय राजन्यम्'—राजन्य अर्थात् क्षत्रिय को क्षत्र अर्थात् राष्ट्र के लिए बनाया गया है। क्षत्रियों को राष्ट्र अर्थात् राज्य के लिए बनाया गया है। राज्य प्रबन्ध द्वारा राष्ट्र की रक्षा करना क्षत्रियों का काम है। 'तपसे शूद्रम्'—शूद्र को तप के लिए बनाया गया है। सब वर्णों की सेवारूप तप करना शूद्र का काम है। इन वाक्यों के बीच प्रस्तुत वाक्य आया है कि 'मरुद्भयो वैश्यम्' अर्थात् मरुतों के लिए वैश्य को बनाया गया है। इसलिए इस वाक्य में मरुतों के कर्तव्य की ओर ही निर्देश होना चाहिए। सैनिक अर्थ यहाँ मरुत् का किया नहीं जा सकता। क्योंकि सैनिक का काम क्षत्रिय का काम है। अतः मरुत् का अर्थ यहाँ सामान्य मनुष्य लेना पड़ेगा। वैश्य को मनुष्यों के लिए बनाया गया है। तात्पर्य यह है कि वैश्य को मनुष्यों की पालना के लिए बनाया गया है। मनुष्यों की पालना जिन भोजन-वस्त्रादि के द्वारा होती है उनको उत्पन्न करना और व्यापार द्वारा उनको प्रजा के मनुष्यों तक पहुँचाना वैश्य का कर्तव्य है।

वैश्य का कर्तव्य व्यापार आदि करना है ऐसा उपदेश वेद में स्थान-स्थान पर दिया है। उदाहरण के लिए कुछ मन्त्रों की ओर नीचे निर्देश किया जाता है—

1. यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्। ऋग्० 5.45.6.

2. याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्।
कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥
ऋग्० 1.112.11.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

(1) हे अश्विनौ (यया) जिस बुद्धि से (वङ्कुः) सर्वत्र गति करने वाला (वणिक्) व्यापारी (पुरीषम्) लोगों का पालन-पोषण करने वाले अन्न आदि को (आपा) प्राप्त करता है, उस बुद्धि को हम प्राप्त करें।

हमने मन्त्र में पुरीष[1] का अर्थ पालन-पोषण करने वाले अन्न आदि किया है। यह शब्द 'पॄ' धातु से, जिसका अर्थ पालन और पोषण करना होता है, बनता है। जो पालना करे और क्षति की पूर्ति करे उसे पुरीष कहेंगे। इस योगार्थ के आधार पर

1 शॄपॄभ्यां किच्च। उणा० 4.27; पिपर्ति तत्पुरीषम।

यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके अन्न आदि अर्थ भी किये गये हैं। उदाहरण के लिए देखिये—

1. अन्न पुरीषम्। शत० 8.1.4.5.
2. पशव: पुरीषम्। शत० 8.7.4.16.
3. गोष्ठः पुरीषम्। तां० 13.4.13.
4. पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रिय गच्छति। शत० 2.3.3.7.

इन स्थलों में अन्न को, पशुओं को, गोष्ठ अर्थात् पशुओं के रहने के स्थानों को पुरीष कहा गया है। अन्तिम वाक्य में जो पुरुष श्री अर्थात् धन-सम्पत्ति को प्राप्त करता है उसे 'पुरीष्य' कहा गया है। इससे धन-सम्पत्ति का नाम पुरीष सिद्ध होता है। मन्त्र-खण्ड में व्यापारियों का वर्णन चल रहा है। इसलिए यहाँ पुरीष का अर्थ विविध प्रकार के अन्न, भाँति-भाँति के पशु, मकान और अनेक प्रकार की धन-सम्पत्ति करना होगा। मन्त्र में व्यापारी के लिए वणिक् शब्द का प्रयोग हुआ है। वणिक्[1] शब्द 'पण' धातु से बनता है जिसका अर्थ व्यवहार करना होता है। जो भाँति-भाँति के व्यवहार व्यापार करे उसे वणिक् कहते हैं। मन्त्र में वणिक् का विशेषण 'वङ्कुः'[2] आया है। यह शब्द 'वञ्चु' धातु से जिसका अर्थ गति करना होता है, बनता है। जो व्यापार के लिए देश-देशान्तर में गति करे—आवे-जावे—उसे वङ्कु कहेंगे। सायणाचार्य ने प्रस्तुत मन्त्र में वङ्कु का अर्थ वनगामी किया है। वन के वेद में कई अर्थ होते हैं। कई अर्थों में से इसका एक अर्थ जंगल और एक अर्थ पानी होता है। व्यापारियों को वनगामी होना चाहिए। उन्हें जंगलों में जाना चाहिए। उन्हें विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ, ओषधियाँ और दूसरे पदार्थ जंगलों में से लाकर उनका व्यापार करना चाहिए। उन्हें जलों में जाने वाला वनगामी भी होना चाहिए। उन्हें समुद्रों में जाकर वहाँ से मोती-मूँगे आदि विभिन्न सामुद्रिक पदार्थों को लाकर उनका व्यापार करना चाहिए। इसका एक भाव यह भी निकलता है कि व्यापारियों को जहाजों में बैठकर समुद्र-पार के देशों में भी व्यापार करने जाना चाहिए। इस प्रकार इस मन्त्र से वैश्यों के सम्बन्ध में निम्न परिणाम निकलते हैं :—

1. उन्हें व्यापार के लिए देश-देशान्तर में जाना चाहिए।
2. उन्हें जंगलों में जाकर वहाँ से भाँति-भाँति के पदार्थ लाकर उनका व्यापार करना चाहिए।
3. उन्हें समुद्रों में जाकर वहाँ से मोती-मूँगे आदि विविध प्रकार के सामुद्रिक

[1] पणेरिज्यादेश्च वः। उणा० 2.70; पणायति व्यवहारतीति वणिक्।

[2] वङ्कुः। वञ्चु गतौ। औणादिक उ प्रत्ययः। बहुलवचनात्कुत्वम्। इति सायणः। ऋग्० 1.51.11 भाष्ये।

पदार्थ लाकर उनका व्यापार करना चाहिए।

4. उन्हें पुरीष अर्थात् अनाज, पशु, और सोना-चाँदी आदि धन-सम्पत्ति को उत्पन्न करके उसका व्यापार करना चाहिए।
5. उन्हें व्यापार के लिए जहाजों में बैठकर समुद्रपार के देशों में भी जाना चाहिए।
6. उन्हें व्यापार के लिए उपयोगी विशेष बुद्धि को अपने में उन्नत करना चाहिए।

अब अगले मन्त्र को भी लीजिये—

(2) हे (सुदानू) उत्तम रीति से दान देने वाले हे अश्विनौ (याभिः) जिन तुम्हारी रक्षाओं के कारण (औशिजाय)[1] मेधावान् और (दीर्घश्रवसे)[2] दीर्घकाल तक जिसने विद्याओं का श्रवण किया है ऐसे (वणिजे) व्यवहारी वैश्य के लिए (कोशः) धन-कोश (मधु) मधु को (अक्षरत्) बहाता है, और (याभिः) जिन अपनी रक्षाओं से (कक्षीवन्तं)[3] हस्तकौशल में रहने वाली शिल्पक्रियाओं वाले (स्तोतारं) स्तोता की (आवतं) तुम रक्षा करते हो (ताभिः) उन (ऊतिभिः) अपनी रक्षाओं के साथ (अश्विना) हे अविनौ तुम (ऊषु) भले प्रकार (आगतम्) आओ।

मन्त्र में वणिक् को औशिज कहा है। यह शब्द उशिज् शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर बनता है। इस प्रकार उशिज् और औशिज का एक ही अर्थ होता है। निघण्टु में यास्काचार्य ने उशिज् का अर्थ मेधाशाली किया है। उशिज् शब्द उणादि कोश में (उणा० 2.71) वश् धातु से सिद्ध किया गया है। इस धातु का अर्थ कान्ति अर्थात् इच्छा करना और प्रकाश करना होता है। इसलिये उशिज् उन मेधावी विद्वानों को कहेंगे जो भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों को जानने की इच्छा रखते हैं। यहाँ यह शब्द वणिक् का विशेषण होकर आया है। जो वणिक् नई-नई बातों को सीखने के इच्छुक और नये-नये व्यापार-व्यवसायों को करने की इच्छा वाले होंगे उन्हें उशिक् या औशिज कहा जायेगा। मन्त्र में वणिक् का एक दूसरा विशेषण

[1] उशिग् मेधाविनाम। निघ० 3.15; उशिगेव औशिजः। अस्य प्रज्ञादिषु पठितत्वात्प्रज्ञादिभ्यश्चेति स्वार्थे अण्।

[2] श्रवणं श्रवः। औणादिकः असुन् (उणा० 4.189) दीर्घं दीर्घकालव्यापि श्रवः विविधविद्याविज्ञानानां श्रवणं यस्य स दीर्घश्रवाः।

[3] कक्षीवान् कक्ष्यावान्। निरु० 6.10 ; कक्ष्याः अङ्गुलयः। निघ० 2.5; कक्ष्यासु करांगुलिषु भवाः शिल्पक्रियाः कक्ष्याः। भवे छन्दसीति यत्। यस्वेतिचेत्याकारलोपः। लोपो व्योर्वलीति पूर्वयकार लोपः। कक्ष्याः करांगुलिसाध्याः शिल्पक्रियाः प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य स कक्षीवान्। प्रशंसायां मतुप्। आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रवत्कक्षीवदित्यादिना निपातनात्संप्रसारणम्। छन्दसीरः इति यस्य वकारः। असंज्ञायामपि छन्दसं संप्रसारणम्।

दीर्घश्रवस् आया है। जिसने दीर्घकाल तक गुरुमुख से विविध विद्याओं का श्रवण किया हो उसे दीर्घश्रवस् कहते हैं। इस विशेषण का भाव यह है कि वैश्यों को अपने कामों से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं को गुरुकुलों में यथोचित समय तक सीखकर अपने कामों में लगना चाहिए। मन्त्र में एक शब्द कक्षीवान् भी आया है। यह भी वणिक् का ही विशेषण है। यद्यपि इसका प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि यह शब्द आपाततः वणिक् का विशेषण नहीं प्रतीत होता है। परन्तु वेद (ऋग्० 1.18.1) में कक्षीवान् शब्द औशिज का विशेषण होकर प्रयुक्त हुआ है। ऐतिहासिकों के अनुसार तो कक्षीवान् ऋषि था ही दीर्घतमाः ऋषि की पत्नी उशिक् का पुत्र। उशिक् नाम की पत्नी का पुत्र होने के कारण ही उसे औशिज कहा गया है। इसलिये प्रस्तुत मन्त्र के कक्षीवान् को औशिज का और उसके द्वारा वणिक् का विशेषण समझना चाहिए। कक्षीवान् का अर्थ यास्काचार्य ने निरुक्त में (निरु० 6.10) कक्ष्यावान् अर्थात् कक्षाओं वाला ऐसा किया है। कक्ष्या का अर्थ यास्क ने ही निघण्टु (2.5) में अंगुलि किया है। कक्ष्या का धात्वर्थ यास्क ने निरुक्त (3.9) में कर्मों को प्रकाशित करने वाली किया है। अंगुलियों के द्वारा अनेक प्रकार के काम किये जाते हैं इसलिये उन्हें कक्ष्या कहते हैं। कक्ष्याओं में—अंगुलियों में—रहने वाली क्रियाओं को, उनके द्वारा होने वाले कामों को, भी कक्ष्या कहा जायेगा। भाव यह है कि अंगुलियों द्वारा जो भाँति-भाँति की रचनायें, भाँति-भाँति की शिल्प-क्रियायें, की जाती हैं उन्हें भी कक्ष्या कहा जायेगा। इन कक्ष्याओं वाले पुरुष को कक्षीवान् कहा जायेगा। जिनकी अंगुलियों में—जिनके हाथों में—कौशल है और उसके द्वारा जो विविध प्रकार के शिल्पों को करते हैं ऐसे विद्वानों को कक्षीवान् कहा जायेगा। ऋषि दयानन्द ने ऋग्० 1.18.1 के भाष्य में कक्षीवान् का यही अर्थ किया है। यहाँ उद्धृत मन्त्र में यह शब्द वणिक् के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिये जो वैश्य अपने हाथों से भाँति-भाँति की चीजों का निर्माण करके उनका व्यवसाय करते हैं वे कक्षीवान् कहलायेंगे।

मन्त्र में कहा गया है कि अश्विनौ की रक्षा में रहकर वैश्यों का कोश मधु बहाने लगता है। अश्विनौ राजकर्मचारियों को कहते हैं। कोश खजाने को कहते हैं। वैश्य लोग व्यापार में अपना कोश लगाते हैं—अपना धन खर्च करते हैं। अश्विनौ की उनको रक्षा प्राप्त होती है। इस रक्षा का परिणाम यह होता है कि उनका व्यापार खूब फलता है। व्यापार में लगाये हुए उनके कोश से उन्हें खूब मधु अर्थात् फल—लाभ—और तज्जन्य सुख-मंगल प्राप्त होता है। जैसे कि किसी को कोश अर्थात् मधुमक्खियों के छत्ते से मधु—शहद—प्राप्त हो जाये। उनके परिश्रम की कमाई उन्हें शहद-सा मीठा स्वाद देती है।

मन्त्र में कक्षीवान् का एक विशेषण स्तोता आया है। स्तोता का अर्थ किसी

के गुणों का बखान करने वाला, प्रशंसा करने वाला और प्रार्थना करने वाला होता है। कक्षीवान् को अश्विनौ का स्तोता कहा गया है। इस विशेषण की ध्वनि यह है कि जब वैश्यों को अपने काम में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित हो तो उन्हें अश्विनौ और उनसे उपलक्षित अन्य राजकर्मचारियों से दूर करने की प्रार्थना करनी चाहिए और राजकर्मचारियों को उन कठिनाइयों को दूर करना चाहिए। इस प्रकार इस मन्त्र से वैश्यों के सम्बन्ध में निम्न परिणाम निकलते हैं।

1. वैश्यों को औशिज होना चाहिए। उन्हें नई-नई बातों को सीखने और नये-नये व्यापार-व्यवसायों को करने की इच्छा वाला होना चाहिए। इस वृत्ति के बिना वैश्य की उन्नति नहीं हो सकती।
2. वैश्यों को गुरुकुलों में यथोचित समय लगाकर वैश्य के कर्मों को सीखना चाहिए। तदनन्तर ही उन्हें व्यापार, कृषि आदि के कामों में पड़ना चाहिए।
3. वैश्यों को भाँति-भाँति के शिल्पों द्वारा विविध प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करके उनका भी व्यापार करना चाहिए।
4. वैश्यों को व्यापार में धन का विनियोग करना चाहिए। जो चीजें वे स्वयं नहीं बनाते उनको उनका निर्माण करने वाले वैश्यों से खरीद कर उन्हें उनका व्यापार करना चाहिए।
5. राज्य-कर्मचारियों को वैश्यों की सब प्रकार से रक्षा और सहायता करनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में पाठकों को अथर्ववेद के तीसरे काण्ड का पन्द्रहवाँ सूक्त भी एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए। उस सूक्त में एक वैश्य इन्द्र (सम्राट्) से प्रार्थना कर रहा है। वैश्यों का रक्षक और सहायक होने के कारण सूक्त में इन्द्र को अभेदोपचार से वणिक् ही कह दिया गया है। इससे वैश्यों का राष्ट्र में कितना अधिक महत्त्व है यह सूचित होता है।

सामान्य प्रजा के लिए सत्य, सदाचार आदि जिन आर्यत्व के गुणों का होना आवश्यक है वे तो सब वैश्यों में भी रहेंगे ही। इसलिए उन्हें यहाँ दिखाना आवश्यक नहीं समझा गया।

## वैश्य के गुणों पर ऋषि दयानन्द

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व ऋषि दयानन्द ने शास्त्रों के आधार पर सत्यार्थ प्रकाश में वैश्यों के जो गुण लिखे हैं उन्हें भी देख लेना चाहिए—

'गाय आदि पशुओं का पालन, वर्द्धन करना; विद्या धर्म की वृद्धि करने

कराने के लिए धनादि का व्यय करना; अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना; वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, सब प्रकार के व्यापार करना; कुसीद अर्थात् सैंकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह या बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना; खेती करना, ये वैश्य के गुण-कर्म हैं।'[1]

[1] ऋषि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, चौथा समुल्लास। मनु० 1 90 के आधार पर।

# शूद्र वर्ण

पुरुष सूक्त में शूद्र की पैर से उपमा दी गई है। जो काम शरीर में पैर का है वही समाज में शूद्र का है। पैर शरीर को अपने ऊपर उठाये रखते हैं। उसे उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं। स्वयं मिट्टी, कीचड़, धूल आदि में रहते हैं पर शेष शरीर को साफ बचाये रखते हैं। पैरों में बाकी शरीर की सेवा का ही यह एक प्रधान गुण है। और कोई विशेष गुण पैरों में नहीं होता। जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने में नहीं रखते, और इसीलिये वे समाज के ब्राह्मण आदि अन्य अंगों की सेवा का ही काम कर सकते हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि में शूद्र के सम्बन्ध में लिखा है—

'जो विद्याहीन, जिसको पढ़ाने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, वह शूद्र है।'

किसी वंश-विशेष में जन्म लेने के कारण कोई शूद्र नहीं है। राष्ट्र के सब बच्चों को पढ़ने के लिए गुरुकुलों में भेजा जायेगा। वहाँ जो बच्चे पढ़ने का अवसर दिये जाने पर भी पढ़-लिख नहीं सके हैं—विद्या-विज्ञान की कोई बात नहीं सीख पाये हैं—और इसीलिये जो कोई ऐसा काम नहीं कर सकते हैं जिसमें बुद्धि की, समझ की, कौशल की विशेष आवश्यकता पड़ती हो उन्हें शूद्र कहा जाता है। ये लोग ब्राह्मण आदि वर्णों के घरों में सेवा का काम करके अथवा किन्हीं कर्म-शालाओं में शरीर से किये जाने वाले भार उठाने आदि के कामों को करके अपना जीवन-निर्वाह और राष्ट्र की सेवा करते हैं। पुरुष सूक्त में शूद्र के लिए दी गई पैर की उपमा से शूद्र के जो गुण और कर्तव्य सूचित होते हैं उसके अतिरिक्त यजुर्वेद के निम्न वाक्य में भी शूद्र के कर्तव्यों की ओर संकेत किया गया है—

तपसे शूद्रम्।

यजु० 30.5.

इस वाक्य का अर्थ यह है कि सबके उत्पादक सविता परमात्मा ने 'शूद्र को तप के लिए बनाया है।' इस वाक्य में चौथे वर्ण शूद्र के कर्तव्यों की ओर संकेत

किया गया है। तप का शब्दार्थ कष्ट सहना होता है। तप का सम्बन्ध वेद में अन्यत्र ब्राह्मण आदि के साथ भी वर्णन किया गया है। ब्राह्मणादि को भी तपस्वी होने के लिए कहा गया है। ब्राह्मणादि के साथ जब तप का सम्बन्ध बताया जाता है तब इसका अर्थ शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्थूल कष्टों के अतिरिक्त मन और आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले सूक्ष्म कष्टों का सहन करना भी होता है। शान्त, दान्त और विद्यावान् आदि बनने में जो सूक्ष्म प्रकार के मानसिक और आत्मिक कष्ट सहने पड़ते हैं उनका भी समावेश ब्राह्मण आदि के साथ तप के सम्बन्ध में होता है। शूद्र के तप में इन सूक्ष्म प्रकार के तपों का ग्रहण नहीं करना होगा। यदि इन तपों का ग्रहण भी शूद्र के तप में किया जाय तो फिर ब्राह्मण और शूद्र में कोई भेद ही न रह जाता। पर शूद्र का ब्राह्मणादि से भेद वेद ने स्पष्ट रूप में किया है। इसलिये शूद्र के तप में शरीर के स्थूल कष्टों का ही समावेश केवल करना होगा। शूद्र के जो काम हैं वे शरीर से ही सम्बन्ध रखते हैं। उसे अपने कामों को करते हुए अपने शरीर को ही कष्ट देना पड़ता है। द्विजों के घरों में बरतन मांजना, झाड़ू देना, भोजन बनाना, पानी आदि भरकर लाना, भार उठाना अथवा सड़कों आदि पर रोड़ी आदि कूटने के काम करना तथा इसी प्रकार दूसरे भी जितने बुद्ध्यनपेक्ष (unskilled) काम हैं वे सब शूद्र के काम हैं और इनमें शूद्र को मुख्यत: शरीर का ही तप करना पड़ता है। यजुर्वेद के इस वाक्य में इस प्रकार के सेवा आदि के शारीरिक तप के कामों को शूद्र के काम बताया गया है। शरीर का शूद्र—पैर—भी सारे शरीर को उठाकर रखने और उसे इधर-उधर ले जाने में थकावट आदि का शारीरिक कष्ट ही झेल रहा होता है—शारीरिक तप ही कर रहा होता है। पुरुष सूक्त में शूद्र को मनुष्य-समाज का पैर कहकर जो रूपक बाँधा गया है वह भी हमें यजुर्वेद के इस वाक्य में शूद्र के तप का अर्थ सेवा आदि के शारीरिक कष्ट-सहन के कार्य करने के लिए बाधित करता है। इस प्रकार जो लोग केवल शारीरिक तप ही कर सकते हैं, जो लोग समाज की सेवा के लिए बुद्ध्यनपेक्ष शारीरिक श्रम (unskilled labour) ही केवल कर सकते हैं, समाज के उन सेवकों को शूद्र कहा जाता है। और जो लोग बुद्धिसापेक्ष श्रम (intellectual and skilled labour) द्वारा समाज की सेवा करते हैं वे समाज के सेवक अपने-अपने कार्य विभाग के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कहलाते हैं।

शूद्र के साथ किसी प्रकार की घृणा का भाव वेद में नहीं है यह बात हम ऊपर के पृष्ठों में कई बार स्पष्ट कर चुके हैं। यह बात पाठकों को भलीभांति हृदयङ्गम कर लेनी चाहिए। शूद्र भी समाज-शरीर का उसी प्रकार घनिष्ठ और प्यारा अंग है जिस प्रकार पैर हमारे शरीर का घनिष्ठ और प्यारा अंग होता है।

शूद्र भी अपने कामों द्वारा समाज-शरीर की सेवा ही कर रहा होता है। इस-लिये जैसा हम ऊपर देखकर आये हैं वेद में आर्य वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों—की भाँति दासवर्ण को—शूद्र वर्ण को—भी इन्द्र का शेवधिपा (यजु० 33.82; ऋग् 8.51.9.) कहा गया है। इन्द्र (सम्राट्) राष्ट्र अथवा समाज के लिए सुखों के जिस शेवधि—खजाने—का निर्माण करता है उसका रक्षक शूद्र भी है। शूद्र भी इन्द्र की आज्ञा में चलता हुआ अपने निर्धारित कर्मों को प्रसन्नता से—मनु के शब्दों में 'अनसूयया' (मनु० 1.91.)—करता हुआ समाज के सुख बढ़ाने में सहायता देता है। इस भाँति वर्णों का भेद विभिन्न प्रकार के कार्यों द्वारा समाज की सेवा के भाव पर अवलम्बित है। उसका आधार जन्म पर आश्रित ऊँच-नीच की भावना नहीं है। वेद में इस भावना का कोई स्थान नहीं है।

## शूद्र के गुणों पर ऋषि दयानन्द

ऋषि दयानन्द ने आर्य शास्त्रों के आधार पर शूद्र के जो गुण लिखे हैं वे भी इस प्रसंग में देख लेने चाहिए—

'शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़कर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन-यापन करना। यही एक शूद्र का गुण-कर्म है।'[1]

[1] ऋषि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, चौथा समुल्लास। मनु० 1.91 के आधार पर।

# आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार मनुष्य-समाज को वेद ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में बाँटा है उसी प्रकार प्रत्येक नर-नारी के वैयक्तिक जीवन को वेद ने ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम इन चार आश्रमों में विभक्त किया है।

## ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक बालक और कन्या को अपनी रुचि, संस्कार और सामर्थ्य के अनुसार चारों वर्णों में से किसी एक को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर उसके कर्तव्य-कर्मों को पालन करने के योग्य अपने आपको बनाने की तैयारी करनी होती है। शरीर, मन और आत्मा की शक्तियों का गहरा संचय करके अपने अभीष्ट वर्ण के आदर्शों के योग्य अपने आपको बनाना होता है। समाज के प्रत्येक बालक और कन्या को जीवन के प्रथम भाग में गुरुकुलों में आचार्य के पास जाकर ब्रह्मचारी रहना चाहिए। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के पाँचवें सूक्त में इस बात का स्पष्ट उपदेश किया गया है। इस सूक्त में वेद ने अपने कहने के अद्‌भुत् कवितामय ढंग से स्पष्ट रूप से कहा है कि राष्ट्र के हरेक कुमार और कुमारी को आचार्य के पास रहते हुए ब्रह्मचर्य के जीवन में, संसार की सब चिन्ताओं से अलग होकर, अपने मन और इन्द्रियों का पूर्ण संयम करके अपने शरीर को बल से, मस्तिष्क को तृण से लेकर परमात्मा तक के सब पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली भाँति-भाँति की विद्याओं से तथा आत्मा को पवित्र गुणों से भरने की ही एकमात्र चिन्ता रखनी चाहिए। इस प्रसंग में ऋग्वेद के नवम् मण्डल का एक सौ बारहवाँ सूक्त भी देखने योग्य है। इस सूक्त में बड़ी सुन्दर रीति से यह दर्शाया गया है कि शिक्षणालयों में विद्यार्थियों की अभिरुचि और शक्ति के अनुसार उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार की विद्याओं और कलाओं (Arts) को पढ़ाने का प्रबन्ध होना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करते हुए चारों में से किसी एक

वर्ण को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है, और उस वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले किसी क्रिया-क्षेत्र को पसन्द करके उसके द्वारा समाज की सेवा करने के योग्य अपने आपको बनाने के लिए आवश्यक विद्या की तैयारी में जुट जाता है ।

## गृहस्थाश्रम

इस भाँति समाज की सेवा के लिए पूरी तरह अपने आपको तैयार करके समाज की क्रियात्मक सेवा करने के लिए वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रम में अपने गुण; कर्म, स्वभाव की सवर्ण कन्या और सवर्ण वर से विवाह करके स्त्री-पुरुषों को अपने संकल्पित वर्ण के अनुसार राष्ट्र की सेवा के सांसारिक कर्तव्यों का जीवन व्यतीत करना होता है । जीवन के प्रथम भाग से ब्रह्मचारी रहकर स्त्री-पुरुषों को जीवन के दूसरे भाग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए इसका विधान वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है । इस सम्बन्ध में विशेष रूप से ऋग्० 10.183, ऋग्० 10.85. और अथर्व० 14.1–2. सूक्त देखने योग्य हैं । गृहस्थाश्रम में राष्ट्र के लिए उत्तम सन्तानें उत्पन्न करने तथा क्रियात्मक और सशक्त रूप में राष्ट्र को अपने-अपने वर्ण के अनुसार सेवा करने के पश्चात् स्त्री-पुरुषों को अगले आश्रम में प्रवेश करना होता है ।

## वानप्रस्थाश्रम

अगला आश्रम वानप्रस्थ है । इस आश्रम में जीवन के तीसरे भाग में आना होता है । इस आश्रम में नर-नारियों को अपना समय संन्यासाश्रम की तैयारी करने और अपने पहले दो आश्रमों की शिक्षा और अनुभवों के आधार पर जाति के बालक और बालिकाओं को निःशुल्क विद्या पढ़ाने आदि के जन-सेवा के काम में लगाना होता है । जिन नर-नारियों ने ब्रह्मचर्याश्रम में ब्राह्मण वर्ण का चुनाव किया था वे तो गृहस्थाश्रम में भी गुरुकुलों में विद्या पढ़ाने का काम कर सकेंगे। अन्य-वर्णों के लोग वानप्रस्थ में आकर पढ़ाने का काम करेंगे । वानप्रस्थाश्रम का विधान देखने के लिये ऋग्० 10.146. और अथर्व० 9.5. सूक्त देखने चाहिए ।

## संन्यासाश्रम

जीवन के चतुर्थ भाग में नर-नारियों को संन्यासाश्रम में प्रवेश करना होता है । इस आश्रम में अपने-पराये, देश-विदेश के भेद को भुलाकर मनुष्य मात्र को धर्म, सत्य और न्याय का उपदेश करते हुए नगर-नगर और गाँव-गाँव में फिरना होता है । संन्यासाश्रम में मनुष्य-मात्र को अपना कुटुम्बी समझने की भावना उत्पन्न करनी

होती है। इस आश्रम में राग-द्वेष, लोभ-मोह, काम-क्रोध, भय-शोक, मान-अपमान आदि सब द्वन्द्वों से ऊपर उठकर सच्चिदानन्द ब्रह्म में अपनी वृत्ति लगाये रखनी होती है, प्राणिमात्र पर दया रखनी होती है और मनुष्यमात्र को सत्य और धर्म का उपदेश करते हुए विचरना होता है। संन्यास आश्रम में वही प्रवेश कर सकता है जिसने पहले ब्रह्मचर्याश्रम में अपने आपको ब्राह्मण बना लिया है, अथवा ब्रह्मचर्य में ब्राह्मण न बन सकने की अवस्था में फिर वानप्रस्थ में जाकर जिसने साधना द्वारा अपने को ब्राह्मण बना लिया है। इस प्रकार संन्यास में केवल ब्राह्मण ही जा सकता है। शेष तीन आश्रमों का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना होगा। संन्यासी संसार भर का उपदेष्टा और गुरु होने का भार अपने कन्धों पर उठा लेता है। इसीलिये संन्यासी को वैदिक शास्त्रों में जगद्गुरु (World Teacher) कहा जाता है। शास्त्रों में संन्यासी को परिव्राट्—सर्वत्र विचरण करने वाला—और 'दिशां पति'—दिशाओं का स्वामी—कहा गया है। क्योंकि उसका काम निरन्तर विचरण करते हुए सब संसार के लोगों में धर्म का प्रचार करना है। ऋग्वेद के 9.113. सूक्त में संन्यासाश्रम का विधान किया गया है। अन्यत्र भी कई स्थानों पर वेद में संन्यासाश्रम का निर्देश किया गया है।

वेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम सौ साल तक अवश्य ही जीना चाहिए और कोई भी व्यक्ति सौ साल तक जी सकता है। वेद के अनुसार सौ वर्ष तक जीना कोई असंभव बात नहीं है। सौ साल की आयु को शास्त्रकारों ने चार आश्रमों के आधार पर पच्चीस-पच्चीस साल के चार भागों में बाँट दिया है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष को मोटे तौर पर प्रत्येक आश्रम में 25 वर्ष तक रहना होगा। आवश्यकता पड़ने पर गृहस्थाश्रम के काल में 4–5 साल की वृद्धि भी हो सकती है। क्योंकि शास्त्रकारों ने लिखा है कि जब सबसे बड़ा पुत्र घर को संभालने योग्य हो जाये और उसके घर एक सन्तान भी उत्पन्न हो जाये तब गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में जाना चाहिए। इसमें कभी-कभी 4–5 साल अधिक भी लग जाना सम्भव है। 25–30 साल से अधिक कोई व्यक्ति भी सामान्यतः गृहस्थाश्रम में नहीं रह सकेगा। इसके बाद प्रत्येक पुरुष को वानप्रस्थ में जाना होगा। वहाँ यदि अपने को ब्राह्मण बना सका है तो उसके बाद संन्यास में चला जावे, नहीं तो मृत्युपर्यन्त वानप्रस्थ में ही रहे।

यह 50–55 वर्ष की आयु के पीछे गृहस्थाश्रम त्याग देने का नियम उन लोगों के लिए है जो वसु ब्रह्मचारी रहते हैं। जो विरले लोग रुद्र (36 वर्ष का) और आदित्य (48 वर्ष का) नामक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहस्थाश्रम में जावेंगे वे वहाँ 60–65 और 75–80 की आयु तक रह सकेंगे। यहाँ हमने पुरुषों की

आश्रम-मर्यादा की ओर संकेत किया है। स्त्रियों के लिए उनकी शारीरिक रचना की दृष्टि से कुछ और नियम है।

सब लोगों को क्रमपूर्वक प्रत्येक आश्रम का पालन करते हुए संन्यासाश्रम तक जाना चाहिए। यह क्रमिक आश्रम प्रवेश व्यक्ति के लिए अधिक सरल और सुरक्षित है। अति उत्कट वैराग्य वाले ब्राह्मण लोग ब्रह्मचर्य के पश्चात् अथवा गृहस्थ के पश्चात् सीधा भी संन्यास में जा सकते हैं।

वेद में इन चारों आश्रमों का विधान है ही। वेद की शिक्षा के आधार पर मनु आदि शास्त्रकारों ने आश्रमों के नियमों और कर्तव्यों का बड़ा सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया है। पाठकों को आश्रमों के सम्बन्ध में विस्तार से जानना हो तो उन्हें वेद और मनु आदि अन्य आर्यशास्त्रों के इस सम्बन्ध के स्थलों को स्वयं सीधा पढ़ना चाहिए। ऊपर की पंक्तियों में आश्रमों के सम्बन्ध में जो लिखा गया है वह इन ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है उसका संक्षिप्त आशय है। इस सम्बन्ध में इससे अधिक लिखना प्रस्तुत ग्रन्थ के क्षेत्र से बाहर का विषय है।

व्यक्ति के जीवन को इन चार आश्रमों में विभक्त करने की इस वैदिक व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था कहा जाता है।

# वर्णाश्रम मर्यादा और राज्य का कर्तव्य

वर्णों और आश्रमों की इस व्यवस्था का राष्ट्र में ठीक-ठीक पालन हो रहा है यह देखना राज्य का काम होगा। राज्य राष्ट्र के सब लोगों से इस वर्णाश्रम-मर्यादा का समुचित पालन करायेगा। वेद में इस सम्बन्ध में पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित वेद-मन्त्र देखिये—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

ऋग्० 10.125.5.

यह मन्त्र 'राष्ट्री संगमी' सूक्त का है। इस सूक्त में राजसभा का वर्णन है। प्रस्तुत मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'(अहम्) मैं राष्ट्र-सभा (एव) ही (स्वयं) स्वयं (इदं) यह बात (वदामि) कहती हूँ जोकि (देवेभिः) दिव्यभावनाओं वाले विद्वान् पुरुषों द्वारा (उत) और (मानुषेभिः) साधारण मनुष्यों द्वारा (जुष्टम्) प्रीति करने योग्य और सेवनीय होती है (यं) जिसको (कामये) मैं चाहती हूँ (तं-तं) उस उसको (उग्रं) उग्र शक्ति वाला क्षत्रिय (तं) उसको (ब्रह्माणं) ब्राह्मण (तं) उसको (ऋषिं) ऋषि, और (तं) उसको (सुमेधाम्) अच्छी बुद्धि वाला प्रजा का सामान्य वैश्यजन (कृणोमि) बना देती हूँ।'

मन्त्र के पूर्वार्द्ध का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र-सभा ऐसी बातें बोलती है—ऐसे नियम बनाती और ऐसे निर्णय करती है—जो प्रजा के देव-पुरुषों और सामान्य लोगों सबके लिए प्रतिजनक और सेवनीय होती है, जो सबकी हितकारी और सबको पसन्द आने वाली होती है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भाव यह है कि राष्ट्रसभा ही यह निर्णय भी करती है कि कौन ब्राह्मण, कौन ऋषि, कौन क्षत्रिय और कौन वैश्य है। जो ब्राह्मणादि न बन सकेगा वह परिशेष से शूद्र ही रह जावेगा। राष्ट्र-सभा ऐसे नियम और व्यवस्था बना देगी जिनसे ब्राह्मण आदि का निर्णय हुआ करेगा। जो व्यक्ति राज्य सभा द्वारा निर्धारित योग्यता को प्राप्त कर लेगा वही ब्राह्मणादि कहा जायेगा। जो व्यक्ति राज्यसभा द्वारा निर्धारित वर्णों की योग्यता को

प्राप्त नहीं कर लेगा वह केवल जन्म के कारण अपने आपको किसी वर्ण का नहीं कह सकेगा। किसी वर्ण का अपने आपको कहने के लिए राज्यसभा द्वारा निर्धारित उस वर्ण की योग्यता किसी भी व्यक्ति को प्राप्त करनी होगी।

इस प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।

ऋग्० 2.12.4.

अर्थात्—'जो इन्द्र (सम्राट्) बुद्धि में नीचे पुरुष को दास (शूद्र) वर्ण बना देता है।'

दास अर्थात् शूद्र वर्ण का व्यक्ति कौन है इसका निश्चय भी सम्राट् करेगा—राज्य करेगा। राष्ट्र में योग्यता का एक निम्नतम मान निश्चित कर दिया जावेगा। जो व्यक्ति उस मान तक भी न पहुँच सकेगा वह शूद्र कहलायेगा।

## वर्णों की निम्नतम योग्यता का निर्धारण राज्य करेगा

इस प्रकार किसी वर्ण को प्राप्त करने के लिये निम्नतम योग्यता क्या है इसका निर्धारण राज्य करेगा। जो व्यक्ति जिस वर्ण की योग्यता को प्राप्त कर लेगा वह उसी वर्ण का कहा जायेगा। किसी व्यक्ति के वर्ण-निश्चय में इसका कोई भी स्थान न होगा कि उसके माता-पिता किस वर्ण के थे। उसकी अपनी प्राप्त की हुई योग्यता ही उसके वर्ण के निश्चय में कारण होगी। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य-नियमानुसार ही कोई वर्ण प्राप्त हो सकेगा। निश्चित राज्यनियमों के अनुसार गुरुकुलों—शिक्षणालयों—के आचार्य आदि लोग स्नातकों को किसी वर्ण का उद्घोषित कर सका करेंगे। इस सम्बन्ध के राज्य-नियमों का उल्लंघन करने वाले लोग राज्य की ओर से दण्डित होंगे।

## आश्रमों की मर्यादा का पालन

वर्णों की भाँति ही आश्रम-मर्यादा का पालन भी राज्य सब लोगों से करायेगा। प्रारम्भ में राष्ट्र के प्रत्येक बालक और बालिका को ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करके गुरुकुलों में विद्याध्ययन करना होगा। राज्य का एक यह भी कर्तव्य है कि वह राष्ट्र में शिक्षा का व्यापक प्रचार करे। ऐसा प्रबन्ध करे कि प्रजा का एक-एक व्यक्ति ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सके। राज्य अपना यह कर्तव्य तभी पालन कर सकता है जब वह प्रत्येक प्रजाजन को जीवन के प्रारम्भिक भाग में गुरुकुलों में जाकर बाधित रूप से शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा प्रचलित कर दे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राज्य के द्वारा प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति से ब्रह्मचर्याश्रम का पालन कराया जायेगा।

वेद के इसी आशय को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है—

'राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके, पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजें वह दण्डनीय हों।'

## गृहस्थाश्रम का महान् प्रयोजन

ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर प्रजा के प्रत्येक नर-नारी को सामान्यतः गृहस्थ में जाना होगा। वैदिक धर्म के अनुसार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके राष्ट्र के लिए उत्तम सन्तानें उत्पन्न करना प्रजा के प्रत्येक स्त्री और पुरुष का धर्म है। जिस समाज से राष्ट्र के नर-नारी इतना लाभ उठाते हैं वह समाज अविच्छिन्न रूप से चलता रहे—उसमें उत्तरोत्तर योग्य और कुशल व्यक्तियों की वृद्धि होती रहे—इस बात का ध्यान रखना प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है। इसीलिये विवाह करके राष्ट्र को उत्तम सन्तानें बनाकर देना वैदिक धर्म में हरेक स्त्री-पुरुष का आवश्यक कर्तव्य कहा गया है। इसमें अपवाद उन्हीं नर-नारियों के लिए हो सकता है जो किसी रोगादि के कारण सन्तानें उत्पन्न करने के अयोग्य हैं। अथवा उन विरले नर-नारियों के लिए अपवाद हो सकता है जो आजन्म ब्रह्मचारी रहकर राष्ट्र की बहुत अधिक सेवा करना चाहते हैं। शेष लोगों को ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ में जाना होगा।

## गृहस्थाश्रम मोक्ष में बाधक नहीं

भारतवर्ष के महाभारतोत्तर-कालीन इतिहास में ऐसे सम्प्रदाय और विचारक उत्पन्न हो चुके हैं जो गृहस्थाश्रम को बहुत ऊँची दृष्टि से नहीं देखते रहे हैं। उनके प्रभाव से अब भी ऐसे लोग बहुत मिलते हैं जो गृहस्थाश्रम को अच्छी चीज़ नहीं समझते। विशेषतः गृहस्थाश्रम को मोक्ष-प्राप्ति या ब्रह्म-साक्षात्कार के मार्ग में भारी बाधक समझा जाता है। गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में ये सब धारणायें वेद की शिक्षा के प्रतिकूल हैं। वेद-शास्त्र में गृहस्थाश्रम के कर्तव्य-कर्मों की जो मर्यादा बाँधी गई है उसका समुचित रीति से पालन करने वाले व्यक्ति के लिये यह आश्रम बन्धन का कारण नहीं प्रत्युत् आत्मा को पवित्र बनने में सहायता देकर मोक्ष का—ब्रह्म साक्षात्कार का—साधन बनता है।

## ब्रह्मपुरी में ब्रह्म का साक्षात्कार

अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है कि 'हमारा यह शरीर अमृत से

आवृत ब्रह्मपुरी है, जो इस रहस्य को जान लेता है अर्थात् यह समझ लेता है कि इस मानव-शरीर में आकर ही आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है, ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए ही असल में हमें यह शरीर मिला है, और इस रहस्य को जानकर इस ब्रह्मपुरी में रहते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाले उपायों का सेवन करके ब्रह्म का साक्षात्कार करके ब्रह्मज्ञानी बन जाता है, ऐसे ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म और ब्रह्म के बनाये पदार्थ और ब्रह्म के उपासक तत्त्वज्ञानी लोग (ब्रह्मा:) चक्षु आदि इन्द्रियों, प्राणों और सन्तानों को (प्रजा) प्रदान करते हैं।'[1] अथर्ववेद के इस कथन से स्पष्ट सूचित होता है कि गृहस्थाश्रम में रहकर भी ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा ब्रह्मज्ञानी सन्तानें उत्पन्न करके अपना वंश भी आगे चला सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि गृहस्थ में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की उत्कट उत्कण्ठा हो। गृहस्थाश्रम स्वयं में निन्दनीय आश्रम नहीं है।

इसी भाँति मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि 'जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्म रूप सा हो जाता है, ऐसे ब्रह्मज्ञानी के कुल में कोई अब्रह्मज्ञानी नहीं उत्पन्न होता, ऐसा ब्रह्मज्ञानी शोक को तर जाता है, पाप को तर जाता है, सब गुहाग्रन्थियों से विमुक्त हो जाता है, अमृत हो जाता है।'[2] उपनिषद् का यह कथन भी अथर्ववेद के उपर्युक्त कथन की ही प्रकारान्तर से पुष्टि करता है और वेद के ही विचार का अनुवाद मात्र है। उपनिषद् के इस कथन का भी स्पष्ट अभिप्राय है कि गृहस्थ भी चाहे तो ब्रह्मज्ञानी बन सकता है। इस प्रकार उपनिषद् भी, जोकि ब्रह्मविद्या के ही ग्रंथ हैं, गृहस्थाश्रम को निन्दनीय नहीं ठहराते। गृहस्थाश्रम अपने आप में निन्दनीय नहीं है, जो लोग अपने बुरे आचरणों के कारण उसे निन्दनीय बना देते हैं वास्तव में वे लोग निन्दनीय हैं।

गृहस्थाश्रम तो सभी आश्रम वालों का उपकार करने वाला बड़ा पवित्र आश्रम है। इसीलिए महाराज मनु और महर्षि दयानन्द जैसे महान् आचार्यों ने गृहस्थाश्रम की अत्यधिक प्रशंसा की है।

राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह देखे कि जो लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर रहे हैं वे अपने इस आश्रम के कर्तव्य-कर्मों का ठीक प्रकार पालन कर रहे हैं। राज्य गृहस्थों से जहाँ इस आश्रम के कर्तव्यों के समुचित पालन की आशा रखेगा वहाँ

[1] यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ अथ० 10.2.29.

[2] स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोमृतो भवति। मुण्डकोपनिषद्, 3.2.

गृहस्थों को अपने आश्रम के धर्मों के पालन करने में जिस प्रकार की सहायता की आवश्यकता होगी वह सब सहायता भी राज्य उन्हें यथेष्ट मात्रा में प्रदान करेगा। इससे पाठकों को यह अवगत होता है कि वैदिक राज्य गृहस्थाश्रमियों से इस आश्रम की मर्यादाओं का पालन कराने के लिए उनके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता है।

गृहस्थाश्रम के उपरान्त प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को वानप्रस्थाश्रम में जाना होगा। वानप्रस्थाश्रम पर भी राज्य अपने ढंग का निरीक्षण रखेगा। हमने ऊपर निर्देश किया है कि अथर्व० 9.5 सूक्त में वानप्रस्थाश्रम का विधान है। ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि में वानप्रस्थाश्रम के विधान में प्रमाण के लिए इसी सूक्त को दिया है। इस सूक्त के दूसरे मन्त्र का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन्यज्ञे यजमानाय सूरिम्।

अथ० 9.5.2.

अर्थात्, (अज) हे अजन्मा जीवात्मा (यजमानाय) राष्ट्र-यज्ञ का यजन कर रहे (इन्द्राय) सम्राट् के लिए (भागं) सेवनीय आपके रूप में (अस्मिन्) इस (यज्ञे) वानप्रस्थाश्रम-प्रवेश यज्ञ में (सूरिम्) विद्वान् (त्वा) तुझको (परिनयामि) मैं लाता हूँ।

यहाँ वानप्रस्थ में प्रवेश कर रहे आत्मा को सम्राट् का भाग—सेवनीय हिस्सा—कहा गया है। वानप्रस्थी भी सम्राट् की—राष्ट्र की—सेवा करेंगे। इसलिए वे सम्राट् के भाग हैं। गुरुकुलों में जाकर वानप्रस्थी लोग राष्ट्र के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करेंगे और इस प्रकार राष्ट्र की सेवा करेंगे। राष्ट्र के बच्चों को शिक्षित करना राज्य का एक भारी कर्तव्य है। वानप्रस्थी लोग इस कर्तव्य में राज्य की सहायता करेंगे। राज्य उनसे लाभ उठायेगा। इस प्रकार वानप्रस्थी लोग स्पष्ट ही सम्राट् (इन्द्र) का भाग—सेवनीय वस्तु—हो जाते हैं। जो वानप्रस्थी इन्द्र का भाग है, जिनसे राज्य ने राष्ट्र के बच्चों की शिक्षा का काम लेना है, उन पर राज्य का अपने किस्म का निरीक्षण तो रहेगा ही। यह निरीक्षण दो प्रकार का होगा : एक तो राज्य यह देखेगा कि जो लोग वानप्रस्थ में जाकर राष्ट्र के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा देने में राज्य का हाथ बँटा सकते हैं वे अपने उचित समय पर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर रहे हैं या नहीं; और दूसरे यह कि जो लोग वानप्रस्थ में चले गये हैं वे वहाँ के बच्चों को शिक्षा देने और साधना द्वारा अपनी आत्मा को उन्नत करके संन्यासाश्रम की तैयारी आदि के अपने कर्तव्यों का पालन कर रहे हैं या नहीं। वानप्रस्थी भी अपने आश्रम के कर्मों का पालन कर रहे हैं यह देखना राज्य का कर्तव्य होगा।

वानप्रस्थाश्रम के अनन्तर अपनी साधना से सन्तुष्ट होकर जो लोग संन्यास में प्रवेश करना चाहेंगे, या उत्कट वैराग्य होने की अवस्था में वानप्रस्थ में गये बिना सीधा ब्रह्मचर्य या गृहस्थ से ही जो लोग संन्यास में जाना चाहेंगे, वे संन्यास में जाने के वास्तव में अधिकारी हो गये हैं या नहीं इसका निर्णय भी अन्तिम रूप में राज्य ही करेगा। ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि में संन्यासाश्रम के विधान में प्रमाण के रूप में ऋग्० 9.113 सूक्त को उद्धृत किया है। इस सूक्त का देवता सोम है। सूक्त के मन्त्रों के वर्णनों के आधार पर ऋषि ने यहाँ सोम का अर्थ संन्यासी किया है। इस सूक्त का पहला ही मन्त्र है—

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

ऋग्० 9.113.1.

मन्त्र का शब्दार्थ है—

'(शर्यणावति)[1] हिंसक पदार्थों की गति से युक्त इस संसार में (वृत्रहा) सत्कर्मों का आवरण करने वाले पापियों और पापों को मारने वाला (इन्द्रः) सम्राट् (सोमं) चन्द्रमा की तरह शान्ति रस बहाने वाले तुझ संन्यासी का अर्थात् तेरे उपदेशामृत का (पिबतु) पान करे (आत्मनि) आत्मा में (बलं) बल को (दधानः) धारण करता हुआ, और (महत्) महान् (वीर्यं) पराक्रम को, सामर्थ्य को (करिष्यन्) करता रहने की इच्छा वाले (इन्दो) चन्द्रमा की भाँति सबको आनन्दित करने वाले हे संन्यासी तुम (इन्द्राय) सम्राट् के लिए—राष्ट्र के कल्याण के लिए (परिस्रव) सर्वत्र विचरण करो।'

इस संसार में अनेक शर हैं—पर-हिंसक पुरुष और पदार्थ हैं। वे सर्वत्र गति करते हैं। सबको हिंसा पहुँचाकर, कष्ट देकर, पाप के काम करके, राष्ट्र में सत्कर्मों के मार्ग में बाधा खड़ी करते हैं। सम्राट् सत्कर्मों के अवरोधक ऐसे वृत्रत पुरुषों और उनके पाप कर्मों को मारना चाहता है। पाप का नाश केवल दण्ड से नहीं किया जा सकता। दण्ड के साथ प्रचार भी होना चाहिए। लोगों की वृत्तियों को सन्मार्ग की ओर धर्मोपदेश द्वारा प्रेरित भी किया जाना चाहिए। इस काम में सम्राट् संन्यासियों से सहायता लेता है। वह स्वयं उनके उपदेशामृत का पान करता है और राष्ट्र के लोग उसका पान कर सकें इसकी व्यवस्था करता है। वह जिनके आत्मा में

[1] शराणां हिंसकानां यानं शर्याणं शर्याणमेव शर्यणं शर्यणा वा। पृषोदरादीनामाकृतिगणत्वात् सिद्धिः। शर्यणस्यादूरभवो शर्यणावान्। मध्वादिभ्यश्चेति मतुप्। मतौ च बह्वचः इति दीर्घः। असंज्ञायामपि छान्दसो मकारस्यवकारः। हिंसकानां यानस्य संचारस्यादूरभवः संचारेण युक्तः संसारः शर्यणावान्। तस्मिन् शर्यणावति।

बल है ऐसे संन्यासियों के राष्ट्र में सर्वत्र विचरण की व्यवस्था करता है। क्योंकि राष्ट्र में से पाप निवारण रूप में जो राजा का कर्तव्य है उसमें संन्यासी अपने धर्म-प्रचार द्वारा उसकी सहायता करता है। मन्त्र में सोम—संन्यासी—के उपदेशामृत को अभेद से सोम ही कह दिया गया है।

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें प्रत्येक मन्त्र के अन्त में इस मन्त्र के ये शब्द आते हैं—'इन्द्रायेन्दो परिस्रव'—'हे संन्यासी तुम सम्राट् (इन्द्र) के लिए अर्थात् राष्ट्र के कल्याण के लिए सर्वत्र विचरण करो।' ऋषि दयानन्द ने इस वाक्य के 'इन्द्राय' का अर्थ 'परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिए' ऐसा किया है। मन्त्र का ऋषि वाला अर्थ तो होता ही है। पर क्योंकि इन्द्र का अर्थ सम्राट् भी होता है इसलिए उस सूक्त के इन्द्र पद से सम्राट् के अर्थ का बोध भी अवश्य हो सकेगा। और तब यह भाव भी मन्त्र से अवश्य निकलेगा जिसकी ओर हमने निर्देश किया है।

## संन्यासाश्रम में प्रवेश के लिए राज्य की स्वीकृति लेनी होगी

जब सम्राट् संन्यासियों के उपदेशामृत का स्वयं पान करेगा और राष्ट्र में धर्मोपदेश के लिए उनके सर्वत्र विचरण की व्यवस्था करेगा तो सम्राट् का यह देखना तो धर्म ही हो जायेगा कि वे संन्यासी लोग आदर्श संन्यासी हैं या नहीं—उपयुक्त प्रकार के धर्मोपदेशक हैं या नहीं। ऐसी अवस्था में जो लोग संन्यास लेना चाहेंगे उन्हें राज्य की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। भारत के इतिहास में कई बार ऐसी व्यवस्था रह भी चुकी है। उदाहरण के लिए आचार्य चाणक्य ने अपने कौटिल्य अर्थशास्त्र[1] में स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति संन्यास लेना चाहे उसे इसके लिए विशेष राज्याधिकारियों से स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। संन्यास के लिए स्वीकृति देने से पहले राज्याधिकारी देखेंगे कि प्रार्थी ने अपने पिछले आश्रम के कर्तव्यों का भली प्रकार पालन कर लिया है या नहीं और संन्यासाश्रम के लिए उसमें उपयुक्त योग्यता उत्पन्न हो चुकी है या नहीं। सब प्रकार से पात्र सिद्ध होने पर ही किसी प्रार्थी को राज्याधिकारी संन्यासी होने की स्वीकृति प्रदान करेंगे। जो ऐसा न करके संन्यास ले लेगा उसे राज्य की ओर से दण्ड मिलेगा।

इस प्रकार राष्ट्र में वर्णाश्रम-मर्यादा का ठीक-ठीक पालन कराना राज्य का कर्तव्य होगा। वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम-व्यवस्था का राष्ट्र में पालन कराना वैदिक राज्य का धर्म होना ही चाहिए। इसीलिए पुराने समय में भारतवर्ष के आर्य

[1] पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वः साहसदण्डः। स्त्रियं च प्रवाजयतः। लुप्तव्यवायः प्रव्रजेदापृच्छ्य धर्मस्थान्। कौटिल्य अर्थशास्त्र 2.1.19.

राजाओं को 'वर्णाश्रम-धर्मगोप्ता' अर्थात् वर्णों और आश्रमों के धर्म की, कर्तव्य-कर्मों की, रक्षा करने वाला कहा जाता था।

## राज्य द्वारा वर्णव्यवस्था के संचालन पर ऋषि दयानन्द

वेद के इसी आशय को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में लिखा है—

'ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों उसे उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोष युक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे। और सन्तान भी डरती रहेंगी कि जो हम युक्त चाल-चलन और विद्या युक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना। क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि या विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है क्योंकि वे इस काम को अच्छी प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्यारहित, मूर्ख होने से विज्ञान सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है।'

# वर्णाश्रम मर्यादा और राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था

ऊपर के पृष्ठों में हमने देखा है कि वेद वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप में समाज का संघटन करता है। वेद की सम्मति में जो राष्ट्र अपने समाज को, अपने जन-समुदाय को, वर्णाश्रम व्यवस्था के सिद्धान्त पर संघटित करेगा वही आदर्श राष्ट्र हो सकेगा। प्रश्न होगा कि राष्ट्र का आदर्श क्या है ? और वर्णाश्रम व्यवस्था उस आदर्श को प्राप्त करने में राष्ट्र की किस प्रकार सहायता करती है ?

## पाँच आलम्बन पदार्थ

प्रत्येक मनुष्य की प्रधान और मूलभूत आवश्यकताएँ पाँच हैं। वे आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र, घर, औषधि और शिक्षा हैं। हरेक मनुष्य को भूख लगने पर खाने के लिए भर-पेट भोजन मिलना चाहिए। शरीर की लज्जा को ढकने के लिए तथा शरीर का ऋतुओं की कठोरता से बचाव करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को वस्त्र मिलने चाहिए। हरेक मनुष्य को रहने के लिए घर मिलना चाहिए। रोगी हो जाने पर रोग को दूर करने के लिए उसे औषधि मिलनी चाहिए। और इनके साथ ही सत्यासत्य का विवेक—खरे-खोटे, भले-बुरे की पहचान—करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए। ये पाँच पदार्थ आलम्बन पदार्थ हैं। इन पाँचों पर मनुष्य का जीवन अवलम्बित है। इनके अभाव में मनुष्य का जीवन नहीं रह सकता। इसलिए इन पदार्थों की प्राप्ति मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है। कोई मनुष्य सर्वथा अकेला रहकर, केवल मात्र अपनी शक्ति पर निर्भर करके, इन आलम्बन पदार्थों को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य को इन पदार्थों की प्राप्ति के लिए दूसरे अनेक लोगों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। परस्पर की सहायता से ही सब मनुष्य इन पदार्थों को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए लोगों को समाज बनाकर, मिलकर, रहने की आवश्यकता होती है। इन आलम्बन पदार्थों की उत्पत्ति और इनके सब लोगों तक पहुँचाने के

लिए जो भाँति-भाँति के कार्य करने होते हैं, समाज में रहने वाले लोग उन कामों को परस्पर बाँट लेते हैं। कोई किसी कार्य को करने का उत्तरदायित्व लेता है और कोई किसी को। इस प्रकार जब सब लोग समाज के रूप में परस्पर बँध जाते हैं तब उनको ये आलम्बन पदार्थ प्राप्त होते हैं। फलतः समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इन पदार्थों की प्राप्ति हो सके इसका भार अकेले उन व्यक्तियों पर न रहकर सारे समाज पर आ पड़ता है। सब व्यक्तियों को इन पदार्थों का पहुँचाना समाज का काम हो जाता है। इसलिए किसी भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ये पाँचों चीजें मिल सकने का प्रबन्ध उस समाज को करना चाहिए।

## सबको आलम्बन पदार्थ मिल सकें इसकी व्यवस्था राज्य करेगा

राज्य समाज के ही संघटित रूप का नाम है। इसलिए दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी राज्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को इन मूलभूत प्रधान पाँच चीजों की प्राप्ति हो सके इसका पूरा प्रवन्ध करे। राज्य में और जो कुछ किया जाता है वह अधिकांश में इन पाँच आलम्बन वस्तुओं की प्राप्ति का सहायक मात्र है। यदि किसी राज्य के प्रत्येक प्रजाजन को ये पाँच मौलिक वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं तो उस राज्य ने कुछ बातों में कितनी ही उन्नति क्यों न कर ली हो, और उसके कुछ लोग कितने ही सुखी क्यों न हों, तो भी वह राज्य आदर्श राज्य नहीं है। वह एक बहुत अपूर्ण राष्ट्र है।

वैदिक राष्ट्र आदर्श राष्ट्र है। वैदिक राज्य में प्रत्येक प्रजाजन को ये पाँचों आलम्बन पदार्थ प्राप्त कराने की पूरी व्यवस्था की गई है। इस प्रकार वेद राजा का यह कर्तव्य बताता है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को भरपेट खाने के लिए अन्न और दूध आदि देने का प्रबन्ध करे। वेद के अनुसार राज्य को प्रत्येक प्रजाजन को खुली हवा और रोशनीदार घर रहने को मिलने की व्यवस्था करनी चाहिए। हमने वेद की यह आज्ञा भी देखी है कि राज्य को प्रत्येक नागरिक को स्वस्थ और रोग निर्मुक्त करने का उपाय करना चाहिए। साथ ही राजा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त वस्त्र मिलते रह सकें ऐसा प्रबन्ध करे। राज्य के प्रत्येक बच्चे को शिक्षित करने के लिए राष्ट्र में शिक्षा का व्यापक प्रचार राजा को करना चाहिए। ये सब सुविधायें वैदिक राज्य के कुछ थोड़े से गिने-चुने व्यक्तियों के लिए ही नहीं हैं। वेद प्रभु की वाणी है। वह प्रभु की ओर से उसके प्रत्येक पुत्र को पढ़ने के लिए दी गई है। इसलिए वेद की प्रार्थना में मनुष्य-मात्र की प्रार्थनायें हैं। ऊँचे से ऊँचे और छोटे से छोटे सब किसी की प्रार्थनाएँ हैं। वेद मन्त्रों द्वारा जो प्रार्थनाएँ सम्राट् से की गई हैं वे राष्ट्र के छोटे-बड़े सब व्यक्तियों की प्रार्थनाएँ हैं। उनमें समाज के किसी

विशेष भाग का नाम नहीं है। वहाँ जो कुछ माँगा गया है वह 'हमारे लिए', 'हमको', 'मेरे लिए', 'मुझको' इन सर्वनाम पदों द्वारा माँगा गया है—और अधिकांश में 'हमारे लिए', 'हमको', इन पदों द्वारा माँगा गया है। इसलिए ये प्रार्थनाएँ समाज के प्रत्येक व्यक्ति की प्रार्थनाएँ हैं। इसलिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ये पाँचों वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में देना राजा का कर्तव्य है। वस्तुतः वेद में तो जहाँ भी कुछ माँगा गया है वह सबके लिए माँगा गया है। इस प्रकार प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति की इन प्रधान मूल आवश्यकताओं की यथेष्ट मात्रा में पूर्ति करने और इनकी पूर्ति द्वारा राष्ट्र का आर्थिक कल्याण करने वाला होने के कारण वैदिक राष्ट्र आदर्श राष्ट्र है।

### अनुबन्ध पदार्थ

मनुष्य की इन पाँच आवश्यकताओं के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ हैं। इन अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति से मनुष्य का जीवन अधिक सुखी बन जाता है। इसलिए इन अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने वाले पदार्थ भी हो सके तो प्रजा के हरेक व्यक्ति को मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए। इन पदार्थों को हम अनुबन्ध पदार्थ कह सकते हैं। आलम्बन पदार्थों की भाँति इन पदार्थों पर मनुष्य का जीवन अवलम्बित—निर्भर—नहीं है। ये पदार्थ सुखाधिक्य के लिए जीवन के साथ जोड़े जाते हैं—बाँधे जाते हैं—इसलिए ये जीवन के अनुबन्ध पदार्थ हैं। वैदिक राष्ट्र में अनुबन्ध पदार्थों की उपेक्षा नहीं की जायेगी। उसमें अनुबन्ध पदार्थ भी यथासम्भव सबको मिल सकें इसका ध्यान भी रखा जायेगा। पर प्रजामात्र के जीवन के आलम्बन—सहारे—ऊपर कहे गये पाँच पदार्थ तो उन्हें सबसे पहले और आवश्यक रूप में मिलने चाहिए। इनकी प्राप्ति तो प्रजामात्र का प्रथम अधिकार है। वैदिक राष्ट्र प्रत्येक प्रजाजन के लिए इन पाँचों आलम्बन पदार्थों की प्राप्ति की व्यवस्था करके उसके इस प्रथम अधिकार की रक्षा करता है। इसलिए हमने उसे आदर्श राष्ट्र कहा है। अनुबन्ध पदार्थों की प्राप्ति की व्यवस्था भी वैदिक राष्ट्र सब प्रजाओं के लिए करेगा ही। इसलिए इस दृष्टि से भी वह आदर्श राष्ट्र रहेगा।

राष्ट्र का आदर्श क्या है यह हमने जान लिया। हमने देखा है कि प्रत्येक प्रजाजन को आलम्बन पदार्थों की प्राप्ति कराकर राष्ट्र का आर्थिक कल्याण करना राज्य का आदर्श है। वर्णाश्रम व्यवस्था राष्ट्र के इस आदर्श की प्राप्ति में उसकी सहायता किस प्रकार करती है यह अब देखना है। राज्य—सम्राट् और उसके सहायक कर्मचारी—प्रजाजनों को ये पाँचों पदार्थ किस प्रकार देगा? सम्राट् और उसके सहायक कर्मचारी स्वयं तो इन पदार्थों को उत्पन्न करके प्रजाओं में बाँट नहीं सकते। यदि वे ऐसा करना भी चाहें तो भी उनके पास इतना समय और शक्ति नहीं हो सकते

कि वे स्वयं इन सब पदार्थों को उत्पन्न करके सब प्रजाओं में बाँट सकें। सम्राट् को अपने राष्ट्र के समाज की—उसकी सर्वसाधारण जनता की—व्यवस्था इस प्रकार बाँधनी होगी कि उसके विभिन्न लोग विभिन्न कामों में लगकर इन पदार्थों को भली-भाँति उत्पन्न कर सकें और सब तक उचित रूप में इन पदार्थों को पहुँचा सकें। जो लोग इन पदार्थों और इनके सहायक पदार्थों को उत्पन्न करेंगे और उन्हें लोगों तक पहुँचाने की व्यवस्था करेंगे सम्राट् उनकी सहायता और रक्षा करेगा। और जो लोग इस कार्य में बाधा उत्पन्न करेंगे उन्हें वह दण्डित करेगा।

## अज्ञान, अभाव और अन्याय

ये पदार्थ सर्वसाधारण प्रजा को न मिल सकें ऐसा तीन कारणों से हो सकता है। एक तो यह कि ये पदार्थ और इनके सहायक पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न किये जाते हैं और जनता तक उनके पहुँचाने की व्यवस्था किस प्रकार होती है तथा इन पदार्थों से उपभोग किस प्रकार लिया जाता है इसका किसी को ज्ञान ही न हो। यह अज्ञान इन पदार्थों को जनता को प्राप्त नहीं होने देगा। दूसरा यह कि इनके और उनके सहायक पदार्थों की उत्पत्ति आदि का ज्ञान तो लोगों के पास है पर उसके द्वारा इन पदार्थों को कोई तैयार ही न करता हो। पदार्थों का यह अभाव उन्हें जनता को प्राप्त नहीं होने देगा। तीसरा यह कि पदार्थ तो हैं पर कुछ लोग अन्याय का आश्रय लेकर उन्हें 'स्वयं' ही समेट कर रखते और हड़प कर जाते हैं, सब जनता तक उन्हें नहीं पहुँचने देते। यह अन्याय भी पदार्थों को जनता को प्राप्त नहीं होने देगा।

## चारों वर्णों के व्रत

इस प्रकार अज्ञान, अभाव और अन्याय प्रजा के आर्थिक कल्याण के ये तीन महा शत्रु हैं। यदि राज्य अपने राष्ट्र की जनता को इस प्रकार विभक्त और व्यवस्थित कर दे जिससे समाज के आर्थिक कल्याण के ये तीनों शत्रु समाज में न ठहर सकें तो उस राज्य में सदा सुख-समृद्धि रहेगी। वैदिक राज्य अपने राष्ट्र की जनता को वर्णाश्रम मर्यादा की व्यवस्था में व्यवस्थित करके प्रजा के आर्थिक कल्याण के इन तीनों महा शत्रुओं के नाश का समुचित उपाय कर देता है। ब्राह्मण लोग अज्ञान से लड़ने की दीक्षा ले लेते हैं। सब प्रकार का अज्ञान राष्ट्र में से दूर करना ब्राह्मणों के जीवन का लक्ष्य हो जाता है। व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान का तन्मयता से संग्रह करना और उसका निःस्वार्थभाव से जनता में प्रचार करना ब्राह्मणों के जीवन का व्रत हो जाता है। सब प्रकार के अन्याय को बलपूर्वक राष्ट्र में से दूर करना क्षत्रियों के जीवन का व्रत हो जाता है। इस काम में यदि उन्हें

अपना खून बहाना और सिर कटाना आवश्यक होगा तो वे निःस्वार्थ भाव से वह भी करेंगे। सब प्रकार के अभाव को राष्ट्र में से दूर करने का, राष्ट्र के लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक सब प्रकार के भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और उन्हें लोगों तक पहुँचाने का निःस्वार्थ व्रत वैश्य लोग अपने जीवन में ले लेते हैं। और राष्ट्र के आर्थिक कल्याण के इन तीनों महाशत्रुओं से लड़ने में लगे हुए ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा करके उन्हें इन तीनों शत्रुओं से लड़ने में सहायता देने का व्रत शूद्र लोग ले लेते हैं। जब किसी राष्ट्र का समाज ब्राह्मणादि वर्णों में व्यवस्थित होकर अपने आर्थिक कल्याण के शत्रु अज्ञान, अन्याय और अभाव से इस प्रकार लड़ने का निश्चय कर लेता है तो फिर उसके लोगों के लिए आर्थिक संकट नहीं रह सकता, फिर तो उसके लोगों की सब आवश्यकताएँ पूरी होकर उन्हें पूर्ण आर्थिक कल्याण प्राप्त हो जावेगा।

## वर्णाश्रम-मर्यादा के तीन तत्त्व

वर्णाश्रम-मर्यादा की रीति से व्यवस्थित समाज को जितना आर्थिक कल्याण प्राप्त हो सकता है उतना और किसी व्यवस्था में व्यवस्थित समाज को प्राप्त नहीं हो सकता। इसका कारण है। वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में इस अध्याय में जो कुछ लिखा गया है उसे सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर पाठक वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त में तीन तत्त्वों को काम करता हुआ देखेंगे। वे तीन तत्त्व हैं—(1) कौशल, (2) शक्ति-प्रतिमान, और (3) यथायोग्य दक्षिणा।

### 1. कौशल

इनमें से पहले कौशल को लीजिये। संसार का कोई मनुष्य सब कामों को नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य की शक्ति सीमित है। वह अपनी सीमित शक्ति से सीमित ही कार्य कर सकता है। हम जो भी कार्य हाथ में लें वह हमें योग्यता के साथ करना चाहिए। योग्यता के साथ किया जाने पर ही कोई कार्य अपना अभीष्ट फल दे सकता है। सीमित शक्ति वाला मनुष्य अपने जीवन में एक-आध काम में ही वास्तविक योग्यता प्राप्त कर सकता है। इसलिए हमें अपनी रुचि और शक्ति को देखकर अपने जीवन के लिए किसी एक-आध कार्य को चुन लेना चाहिए और उसी को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर उसमें पूर्ण योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। यदि हम अनेक विषयों में हाथ डालेंगे तो हमें सबका पल्लवग्राही ज्ञान रहेगा। पूरी योग्यता हम किसी में भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे और इसलिए हम समाज की जो सेवा, समाज का जो लाभ, कर सकते थे वह न कर सकेंगे। विषयों के अधूरे पल्लवग्राही

ज्ञान से तो समाज को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचाया जा सकता। इसलिए हमें किसी एक विषय का चुनाव—वरण—करके उसमें तो पूर्ण योग्यता प्राप्त करनी चाहिए और अन्य विषयों के साधारण ज्ञान पर ही सन्तोष करना चाहिए। यदि हम सभी विषयों में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सकते तो बड़ा ही अच्छा होता। पर हम बने ही ऐसे हैं कि हम सब विषयों में पूर्ण योग्यता प्राप्त नहीं कर सकते। हम किसी एक-आध विषय में ही पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सकते हैं और वह भी सारा जीवन लगा कर। इसीलिए हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि हम किसी एक विशेष विषय का वरण करके उसी में पूर्ण योग्यता—कौशल—प्राप्त करने में सारा जीवन अर्पण कर दें, और, इस एक काम में कौशल प्राप्त करके राष्ट्र को अपनी शक्तियों का पूरा लाभ पहुँचायें।

वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त लोगों में यह कौशल, यह पूर्ण योग्यता, यह कमालियत उत्पन्न करता है। जब बालक गुरुकुलों में—शिक्षणालयों में—पढ़ने जाते हैं तो उन्हें कुछ निश्चित समय तक प्रारंभिक शिक्षा—वह शिक्षा जिसका ज्ञान किसी भी विषय में जाने के लिए आवश्यक है—दी जाती है। तदनन्तर उन्हें प्रेरित किया जाता है कि वे अपनी रुचियों और शक्तियों की पड़ताल करके अपने जीवन का कोई एक लक्ष्य चुन लें। उन्हें योग्यता प्राप्त करके जीवन में समाज की सेवा करनी है। समाज के तीन शत्रु हैं—अज्ञान, अन्याय, और अभाव। उन्हें अपना जीवन अज्ञान से लड़ने में लगाना है, अन्याय से लड़ने में लगाना है, या अभाव से लड़ने में लगाना है—यह बालक और बालिकाओं को प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने लिए चुन लेना चाहिए। और गुरुकुलवास का—ब्रह्मचर्याश्रम का—शेष समय उसी क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली विशेष योग्यता—कमालियत—प्राप्त करने में लगाना चाहिए।

फिर, अज्ञान भी अनेक प्रकार का है। एक-एक प्रकार के अज्ञान से लड़ने के लिए पृथक्-पृथक् एक-एक विद्या है। कोई एक व्यक्ति सब विद्याओं में पूर्ण पाण्डित्य—कौशल—प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए बालक को यह भी निश्चय कर लेना होगा कि वह अज्ञान की किस शाखा से लड़ने में अपना जीवन समर्पित करेगा। यह निश्चय करके उसे गुरुकुल का अपना जीवन उसी से सम्बन्ध रखने वाली विद्या में कौशल उपलब्ध करने में लगाना होगा। तभी वह गृहस्थाश्रम में जाकर समाज की अभीष्ट सेवा कर सकेगा।

इसी प्रकार अन्याय भी अनेक प्रकार का है और उसका बलपूर्वक विरोध करने वाले क्षत्रियों के कर्तव्य भी अनेक प्रकार के हैं। कोई व्यक्ति क्षत्रियों के सभी कर्तव्यों में पारंगत नहीं हो सकता। किसी एक-आध कर्तव्य को पूरा करने की योग्यता में ही कोई व्यक्ति निष्णात हो सकता है। इसलिए अन्याय से बलपूर्वक

लड़ना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले बालकों को यह भी निश्चय उसी समय कर लेना होगा कि वह क्षत्रियों के कर्तव्यों की किस दिशा में विशेष योग्यता—कौशल—प्राप्त करना चाहते हैं। यह निश्चय करके उन्हें उसी दिशा में कौशल प्राप्त करने में गुरुकुलवास का अपना समय विशेष रूप से लगाना होगा। तभी वह गृहस्थ में जाकर राष्ट्र की अभीष्ट सेवा कर सकेंगे।

इसी भांति अभाव भी अनेक प्रकार का है—उसकी भी अनेक शाखाएँ हैं। विशेष-विशेष प्रकार के अभाव को दूर करने के लिए विशेष-विशेष प्रकार के भौतिक पदार्थों की आवश्यकता है। कोई व्यक्ति उन सब पदार्थों को उत्पन्न करके जनता तक नहीं पहुँचा सकता। इसलिए अभाव से लड़ना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले बालकों को उसी समय यह भी निर्णय कर लेना होगा कि वे अभाव की किस शाखा से लड़ना चाहते हैं। यह निश्चय करके उन्हें उसी शाखा से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों की उत्पत्ति और उनके व्यवसाय की विद्या में कौशल प्राप्त करने में अपने ब्रह्मचर्याश्रम का समय विशेष रूप से लगाना होगा। तभी वह गृहस्थ में जाकर समाज की अभीष्ट सेवा कर सकेंगे।

अज्ञान को मिटाने में अपना समय और शक्ति लगाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले लोगों को ब्राह्मण वर्ण के लोग कहा जाता है। अन्याय को बलपूर्वक मिटाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले लोगों को क्षत्रिय वर्ण के लोग कहा जाता है। पदार्थों के अभाव को मिटाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले लोगों को वैश्य वर्ण के लोग कहा जाता है और जो लोग आवश्यक ज्ञान न होने के कारण इन तीनों में से किसी से सीधा नहीं लड़ सकते, केवल इनसे लड़ने वाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा करके ही समाज को लाभ पहुँचा सकते हैं उन लोगों को शूद्र वर्ण के लोग कहा जाता है।

### ब्राह्मणादि को वर्ण कहने का प्रयोजन

वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणादि के साथ जो 'वर्ण' शब्द का प्रयोग होता है उसकी ध्वनि ही यह है कि मनुष्य को अपने जीवन का कोई एक लक्ष्य चुनकर उसमें विशेष योग्यता—कौशल—प्राप्त करनी चाहिए और उसके द्वारा समाज की सेवा करनी चाहिए। ब्राह्मणादि क्योंकि कौशल लाभ करने की इच्छा से अपने जीवन का एक-एक लक्ष्य वरण कर लेते हैं—चुन लेते हैं—इसीलिए उन्हें 'वर्ण' कहते हैं।

जो लोग अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाकर उसमें कौशल प्राप्त नहीं करेंगे और उनके द्वारा समाज की सेवा का व्रत नहीं लेंगे वे राष्ट्र की सुख-समृद्धि को भली प्रकार नहीं बढ़ा सकेंगे। जो व्यक्ति आज किसी विद्यालय में अध्यापन का कार्य शुरू

करता है, कल कृषि या व्यापार के किसी काम में लग जाता है और परसों पुलिस या सेना में प्रविष्ट होकर राज्य की नौकरी कर लेता है वह इनमें से किसी काम में भी कुशल नहीं हो सकता। और किसी काम में भी कौशल न होने के कारण वह समाज को वह लाभ नहीं दे सकेगा जो किसी विषय में कौशल होने की अवस्था में वह दे सकता था। कुशल विद्वान् न होने के कारण वह विद्यार्थियों को उत्कृष्ट ज्ञान न दे सकेगा। इससे अन्ततोगत्वा समाज की हानि होगी। कुशल कृषिवेत्ता और व्यवसायविद् न होने के कारण वह उत्कृष्ट और प्रचुर परिमाण में अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न न कर सकेगा। इससे भी अन्ततोगत्वा समाज की हानि होगी। इसी भाँति पुलिस और सेना के कामों में कुशल न होने के कारण वह इन कामों को भी जैसा चाहिए वैसा न कर सकेगा। इसका परिणाम भी अन्ततः समाज की हानि होगी।

इसलिए समाज की जिस व्यवस्था में 'वर्ण' का—चुनाव का, व्रत और दीक्षा का—स्थान न होगा उस समाज में जैसी चाहिए वैसी आर्थिक सुख-समृद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि लोग कौशल प्राप्ति की ओर कम ध्यान देंगे, तन्मयता के किसी एक ही काम पर जीवन-भर डटे रहने की प्रवृत्ति उनमें कम होगी और फलतः वे समाज को जितना लाभ पहुँचा सकते थे उतना नहीं पहुँचा सकेंगे। वर्णव्यवस्था के आधार पर की जानी वाली समाज की व्यवस्था में 'वर्ण' का—चुनाव का, व्रत और दीक्षा का—स्थान है। इसलिए इस आधार पर व्यवस्थित समाज में जैसा चाहिए वैसा आर्थिक सुख (समृद्धि) उत्पन्न हो सकेगा। क्योंकि उसके लोग कौशल प्राप्ति करना अपना लक्ष्य रखेंगे, उनमें तन्मयता से किसी एक काम पर जीवन भर डटे रहने की प्रवृत्ति होगी और फलतः वे समाज को जितना लाभ पहुँचा सकते थे उतना पहुँचावेंगे। वर्ण-मर्यादा में दीक्षित ब्राह्मण के जीवन भर का लक्ष्य ज्ञान का प्रचार करना होगा। वह किसी प्रलोभन से इस लक्ष्य से नहीं हटेगा। इसलिए वह जनता को जो ज्ञान देगा वह उत्कृष्टतम और परिमाण में अधिक होगा। वर्ण-मर्यादा में दीक्षित क्षत्रिय के जीवन भर का लक्ष्य अन्याय से समाज की रक्षा करना होगा। वह किसी प्रलोभन और भय से इस उद्देश्य से डिगेगा नहीं। इसलिए वह समाज की बहुत उत्तमता से रक्षा कर सकेगा। वर्ण-मर्यादा में दीक्षित वैश्य का जीवन भर का लक्ष्य समाज के लिए भौतिक पदार्थ उत्पन्न करना होगा। वह किसी कारण भी इस उद्देश्य से परे नहीं जायेगा। फलतः वह समाज के लिए जो भौतिक पदार्थ उत्पन्न करेगा वे उत्कृष्टतम कोटि के और प्रचुर परिणाम में होंगे और वर्ण-मर्यादा में दीक्षित शूद्र के जीवन का लक्ष्य असूया रहित होकर राष्ट्र के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा करना होगा।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के इस कौशल प्राप्ति के तत्त्व का परिणाम यह होगा कि जो समाज इस व्यवस्था में व्यवस्थित होगा उसे पूर्ण आर्थिक कल्याण प्राप्त होगा।

## 2. शक्ति-प्रतिमान

अब लीजिये शक्ति-प्रतिमान को। जो समाज वर्णव्यवस्था के आधार पर व्यवस्थित किया जायेगा उसमें समाज के किसी एक वर्ग के हाथ में समग्र शक्ति केन्द्रित नहीं हो सकेगी। उसमें सब वर्णों की शक्ति का प्रतिमान रहेगा—उसमें सब वर्णों की शक्ति परस्पर समतुलित रहेगी। उस समाज में कोई वर्ण सम्पूर्ण शक्ति उसी के हाथ में आ जाने से दूसरे वर्णों पर अन्याय और अत्याचार नहीं कर सकेगा।

**ब्राह्मणों का सम्मान सबसे अधिक**

वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण को सम्मान—आदर-सत्कार—मिलता है। ब्राह्मण का अन्य सब वर्णों से अधिक सम्मान होगा। हरेक अवसर पर दूसरे वर्णों वाले लोग ब्राह्मण का सबसे अधिक मान करेंगे। किसी भी कार्य को करने से पहले ब्राह्मणों की सम्मति को सब कोई पूछेगा और उसे आदर के साथ सुनेगा। और यथासम्भव उनकी सम्मति के अनुसार चलने का प्रयत्न करेगा। सभा-समाजों में, विवाह आदि उत्सव मंगलों में तथा राज-दरबार आदि में ब्राह्मणों को सबसे आगे और सबसे ऊँचा स्थान दिया जायेगा। ब्राह्मणों के आने पर सम्राट् को भी खड़ा होकर उनका सम्मान करना पड़ेगा। ब्राह्मणों का भरण-पोषण करना भी अन्य वर्ण अपना अहोभाग्य समझेंगे। ब्राह्मणों का यह सम्मान राष्ट्र के अन्य लोग इसलिये नहीं करते कि ब्राह्मण को इसकी चाह होती है। आर्यशास्त्रों[1] में ब्राह्मण जीवन का तो यह भी एक आदर्श बताया गया है कि वह सदा मान को अपने लिये विष के समान समझे, मान की कभी इच्छा न करे और उसके पीछे कभी न दौड़े। जैसा हम पीछे अनेक प्रसंगों में लिख चुके हैं ब्राह्मण का जीवन बड़ी कठोर साधना का जीवन है। विरले लोग ही इस जीवन को अपना लक्ष्य बनाते हैं। परन्तु जिस राष्ट्र में इस जीवन को बिताने वाले लोग संख्या में जितने अधिक होंगे उतना ही वह राष्ट्र अधिक ऊँचा होगा और उसका कल्याण भी अधिक होगा। दूसरे वर्णों के लोग जब ब्राह्मणों का सम्मान अधिक करेंगे तो जनता में ब्राह्मण बनने की प्रवृत्ति अधिक होगी और राष्ट्र को ब्राह्मण अधिक संख्या में प्राप्त हो सकेंगे। स्वभाव से सब लोग ऐसे नहीं होते कि उन्हें मान की इच्छा बिल्कुल न हो। बहुत लोगों को मान की इच्छा होती है। प्रारम्भ में मान की इच्छा से प्रेरित होकर भी यदि समाज को ब्राह्मण अधिक संख्या में प्राप्त हो जायें तो यह समाज के कल्याण के लिए बड़ी भारी चीज़ है। फिर आगे चलकर ये ब्राह्मण लोग अपनी साधना द्वारा मान की इच्छा को भी जीत लेंगे। वस्तुतः समाज

[1] मनु० 2.162।

के लोग अपने कल्याण के लिए ब्राह्मणों का मान-सम्मान और आदर-सत्कार करते हैं।

**क्षत्रियों को राज-शक्ति**

अब रहे क्षत्रिय। क्षत्रियों को वर्ण-मर्यादा में राज-शक्ति प्राप्त होती है। सब वर्णों पर—सारे राष्ट्र पर—शासन करने का काम क्षत्रियों को सौंपा जाता है। दूसरे शब्दों में दण्ड-शक्ति क्षत्रियों के हाथ में रहती है। क्षत्रियों को सम्मान ब्राह्मणों की अपेक्षा कम मिलता है। ब्राह्मणों के आगे राजा को भी उठकर खड़ा हो जाना पड़ेगा। आते हुए ब्राह्मण के लिए राजा भी मार्ग छोड़ देगा। विचार-सभाओं में राजा को ब्राह्मणों की सम्मति को ही सबसे अधिक मूल्य देना होगा। इस वर्ण-मर्यादा में क्षत्रिय को राज्याधिकार तो दिया गया है पर उसे सम्मान ब्राह्मण से बहुत कम दिया गया है।

**वैश्यों को धन-सम्पत्ति औरों से अधिक**

अब आइये वैश्यों पर। वैश्यों को वर्ण-मर्यादा में धन-सम्पत्ति का सुख दिया गया है। वैश्य राज्याधिकारी भी नहीं हो सकते और उन्हें मान-प्रतिष्ठा भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों जितनी नहीं मिल सकती। सभा-समाजों, उत्सव-मंगलों और राज-दरबारों में वैश्यों का आसन तीसरी श्रेणी में होगा। सम्पत्ति का वैभव ही उनके पास अन्य वर्णों से अधिक होगा।

इस प्रकार वर्ण-मर्यादा में व्यवस्थित समाज में ब्राह्मणों को मान-प्रतिष्ठा तो सबसे अधिक मिलेगी पर उनके पास राज्याधिकार और धन-वैभव नहीं होगा। क्षत्रियों के पास राज्याधिकार तो होगा पर उनकी मान-प्रतिष्ठा ब्राह्मणों से कम होगी और उनके पास धन-वैभव भी वैश्यों से कम रहेगा। वैश्यों के पास अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा धन-वैभव तो अधिक रह सकेगा पर उनके पास न राज्याधिकार रहेगा और न ही उनकी मान-प्रतिष्ठा ब्राह्मणों और क्षत्रियों जितनी हो सकेगी। परिणाम यह होगा कि इस व्यवस्था में समाज के किसी वर्ग के हाथ में सारी शक्तियाँ इकट्ठी नहीं हो सकेंगी। और इसीलिये कोई वर्ग समाज के अन्य वर्गों पर अत्याचार करके उन्हें दुःखित नहीं कर सकेगा।

हम मनुष्य जाति के इतिहास में देखते हैं कि कई बार समाज के किसी एक ही वर्ग के हाथ में मान-प्रतिष्ठा, राज्याधिकार और धन-वैभव सब कुछ आ जाता है। उदाहरण के लिए भूमण्डल के आजकल के अमेरिका आदि अनेक देशों की अर्थ-प्रधान व्यवस्था को हम देखें तो वहाँ जो लोग धन-सम्पत्ति कमाने का काम करते हैं

उन्हीं को सम्पत्तिशाली होने के कारण मान-प्रतिष्ठा सबसे अधिक मिलती है और वे ही लोग अपने धन के प्रभाव से राज्यशक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं। धन के प्रभाव से सब शक्तियाँ अपने हाथ में करके ये धनी लोग प्रजा के बहुसंख्यक लोगों पर खूब अत्याचार करते हैं। संसार की आजकल की यह व्यवस्था अवैदिक है। इसके स्थान पर संसार की वर्णों के अनुसार व्यवस्था बननी चाहिए। वर्ण-व्यवस्था में जो व्यक्ति धन-सम्पत्ति कमाने का काम करता है वह राज्याधिकार प्राप्त ही नहीं कर सकता और न ही उसे मान-प्रतिष्ठा सबसे अधिक मिल सकती है। जो कोई इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा उसे दण्ड मिलेगा। इस भाँति वर्ण-व्यवस्था का यह शक्ति-प्रतिमान किसी वर्ग को अन्य वर्गों पर अत्याचार नहीं करने देगा। फलतः सारा समाज खूब सुखी रहेगा।

### 3. यथोचित दक्षिणा

अब वर्ण-व्यवस्था के तीसरे तत्त्व यथायोग्य दक्षिणा को लीजिए। ब्राह्मण व्यक्ति ज्ञान द्वारा समाज की सेवा करता है। क्षत्रिय व्यक्ति अपनी शक्ति से अन्याय को मिटाकर समाज की सेवा करता है। वैश्य व्यक्ति भौतिक पदार्थों को उत्पन्न करके और उन्हें लोगों तक पहुँचा कर समाज की सेवा करता है। और शूद्र व्यक्ति शारीरिक सेवा द्वारा समाज की सेवा करता है। अब इस समाज सेवा के बदले में इन चारों को यथायोग्य दक्षिणा भी मिलनी चाहिए। सेवा के बदले में समुचित दक्षिणा न मिलने पर इनका जीवन नहीं चल सकेगा और फलतः इनके द्वारा राष्ट्र को मिलने वाली सेवा का क्रम टूट जायेगा, जिसका परिणाम होगा राष्ट्र का सीधा विनाश। अथवा इन लोगों को अपना-अपना जीवन-लक्ष्य त्याग कर जीवन यात्रा के के लिए कोई और काम हाथ में लेना पड़ेगा। उसका परिणाम होगा कार्यों में कौशल-हीनता। जिसका फल होगा राष्ट्र की सुख-समृद्धि की न्यूनता।

वर्ण-मर्यादा में सब लोगों को यथायोग्य दक्षिणा मिलने की व्यवस्था कर दी गई है। जीवन में पाँचों आलम्बन पदार्थ तो सब वर्णों के लोगों को मिलेंगे ही। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को मान-प्रतिष्ठा अधिक मिलेगी। क्षत्रियों को राज्याधिकार मिलेंगे। और वैश्यों को धन-वैभव और तज्जनित सुख-आराम अपेक्षाकृत अधिक मिलेंगे। संसार की आजकल की अवैदिक समाज-व्यवस्था में सब लोगों को दक्षिणा दी जाती है वह केवल रुपये-पैसे—सोने-चाँदी—के रूप में ही दी जाती है। इससे एक तो धन की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है जिससे अनेक अनर्थ होते हैं। दूसरे सब लोगों को यथायोग्य—जैसी चाहिए वैसी—दक्षिणा नहीं मिलती। आलम्बन पदार्थ तो सबको मिलने ही चाहिए। इनकी आवश्यकता तो मनुष्यमात्र को समान रूप से

है। इसलिये रुपया-पैसा आदि इतनी सामग्री तो दक्षिणा में प्रत्येक मनुष्य को मिलनी चाहिए जिससे उसे आलम्बन पदार्थ प्राप्त हो सकें। परन्तु इसके आगे भी मनुष्य की आवश्यकतायें बची रहती हैं। और ये आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। आलम्बन पदार्थों के अतिरिक्त ब्राह्मणवृत्ति के लोगों की ये आवश्यकतायें ज्ञानार्जन-सामग्री की सुविधा और मान-प्रतिष्ठा होती है। यद्यपि आगे चलकर ब्राह्मण मान-प्रतिष्ठा की भावना को तो जीत भी लेता है। यदि ब्राह्मण को ज्ञानार्जन-सामग्री की सुविधा और सम्मान मिलता रहे तो न उसे राज्याधिकार चाहिए और न ही उसे धन-वैभव चाहिए। यदि उसे ये न देकर राज्याधिकार और धन-वैभव भी दिया जायेगा तो वह दुःखी रहेगा। क्षत्रियवृत्ति के लोगों की ये आवश्यकतायें अधिकार का प्रेम, शक्ति की इच्छा, शासन की चाह हैं। उन्हें धन-वैभव विशेष नहीं चाहिए। सम्मान की भी उन्हें इतनी परवाह नहीं। उन्हें अधिकार दे दो उनका आत्मा सन्तुष्ट हो जाता है। जब तक उनके हाथ में अधिकार—शक्ति—नहीं आता तब तक वे भारी असन्तुष्ट रहते हैं। वैश्यवृत्ति के लोगों की ये आवश्यकतायें धन-वैभव और तज्जनित सुख-आराम हैं। इनका चित्त इस ओर अधिक आकृष्ट होता है। यदि इनके हाथ में राज्याधिकार भी कभी आ जाये तो वे उसे भी धन-वैभव का साधन बनाने का प्रयत्न करते हैं। जब तक इनके पास धन-वैभव नहीं होगा तब तक ये असन्तुष्ट रहेंगे। वर्णाश्रम-मर्यादा में सब लोगों को यथायोग्य दक्षिणा दी जाती है। इससे वे भरपूर सन्तुष्ट रहते हैं। और इसीलिये समाज सेवा के अपने निर्धारित कार्यों को बड़े मनोयोग के साथ करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्र की सुख-समृद्धि खूब बढ़ती है।

## आश्रम-व्यवस्था की उपयोगिता

वर्ण-व्यवस्था का अत्यावश्यक सहकारी अंग आश्रम-व्यवस्था भी राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को बढ़ाने में भारी सहायक होती है। ब्रह्मचर्याश्रम में सब लोग अपने-अपने वर्णों के कामों में योग्यता, कौशल, प्राप्त करेंगे। और फिर गृहस्थाश्रम में सब लोग अपने-अपने वर्ण के कामों को योग्यतापूर्वक करके समाज की सेवा करेंगे और उसकी सुख-समृद्धि बढ़ायेंगे। इस भाँति तो आश्रम-व्यवस्था राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को बढ़ाने में सहायक होती ही है, एक और प्रकार से भी यह व्यवस्था उसके बढ़ाने में सहायक होती है। और वह इस प्रकार—ब्रह्मचर्याश्रम में कोई व्यक्ति धन-सम्पत्ति कमाने का और तज्जनित विशेष सुख-आराम का जीवन नहीं बिताता। इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन तपस्या का जीवन होता है।

गृहस्थाश्रम के 25–30 वर्ष के जीवन में ही किसी व्यक्ति को उपार्जन और

संग्रह का तथा तज्जनित सुख-आराम का जीवन बिताना होता है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में फिर उपार्जन और संग्रह का जीवन बन्द हो जाता है। इन आश्रमों में फिर ब्रह्मचर्य की भाँति तपस्या और धन की दृष्टि से त्याग का जीवन आरम्भ होता है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने जीवन के केवल चतुर्थांश में उपार्जन और संग्रह का काम करता है। आजकल की प्रचलित अवैदिक व्यवस्था की भाँति आश्रम मर्यादा में कोई व्यक्ति सारा जीवनभर कमाने का काम नहीं करता रह सकता। इसका फल यह होगा कि पिछली पीढ़ी आने वाली पीढ़ी के लिये कमाने की जगहों को खाली करती जायेगी। परिणामतः राष्ट्र में कभी ऐसी अवस्था नहीं आयेगी जबकि किसी को जीविका के लिए कोई काम करने को न मिलता हो। जैसा कि आजकल की, लोगों को जीवन भर कमाते रहने की आज्ञा देने वाली अवैदिक समाज-व्यवस्था में प्रायः होता रहता है।

आश्रम-मर्यादा में गृहस्थाश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को करने को काम मिलेगा और वह अपने परिश्रम से आजीविका उत्पन्न कर सकेगा। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रत्येक व्यक्ति की पालना समाज करेगा। इस भाँति कोई भूखा और कोई निकम्मा न रह सकेगा। सब लोग आर्थिक कल्याण और सुख का जीवन बितायेंगे।

## आश्रम-व्यवस्था में त्याग और तप पर बल दिया जाता है

एक और दृष्टि से भी आश्रम-व्यवस्था राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को बढ़ाने में सहायक होगी। आश्रम-व्यवस्था में एक व्यक्ति के जीवन का तीन चतुर्थांश त्याग, तपस्या और धन-सम्पत्ति से वितृष्णा में बीतता है। इससे उसके जीवन में धन-सम्पत्ति की महत्ता और मोह-माया बहुत कम हो आती है। और जब धन की महत्ता और मोह कम हो गये तो इनसे उत्पन्न होने वाले लोभ, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि अवगुण भी उसमें बहुत कम हो जाते हैं। और जब ये अवगुण नहीं रहे तो इनसे होने वाले लड़ाई-झगड़े और अन्याय-अत्याचार भी कोई व्यक्ति किसी पर नहीं करता। जब राष्ट्र के लोग परस्पर अन्याय-अत्याचार नहीं करेंगे तो सबकी आवश्यकतायें बहुत अच्छी तरह पूरी होंगी। कोई किसी प्रकार के कष्ट में न रहेगा। सर्वत्र सुख-समृद्धि रहेगी। सबको यथेष्ट आर्थिक कल्याण प्राप्त होगा।

इस प्रकार वर्णाश्रम-मर्यादा में व्यवस्थित समाज का जितना आर्थिक कल्याण होगा उतना और किसी व्यवस्था में व्यवस्थित समाज का नहीं हो सकता। वर्णाश्रम-मर्यादा व्यक्ति और राष्ट्र को आध्यात्मिक लाभ भी पहुँचाती है।

अभी ऊपर हमने देखा है कि वर्णाश्रम-मर्यादा में राष्ट्र का प्रत्येक

नर-नारी ब्राह्मणादि वर्ण की दीक्षा लेकर अपनी रुचि के अनुसार समाज की सेवा का कोई क्षेत्र चुनकर उसके अनुकूल अधिक से अधिक योग्यता और कौशल सम्पादन करके उसके द्वारा समाज की सेवा में अपनी सारी शक्ति लगा देता है। हमने यह भी देखा है कि चार आश्रमों में से केवल एक गृहस्थाश्रम में ही किसी व्यक्ति को धन-सम्पत्ति कमाने का अधिकार है। शेष तीन आश्रमों में रहता हुआ कोई व्यक्ति धन-सम्पत्ति कमाने का काम नहीं कर सकता। न केवल इन शेष तीन आश्रमों में कोई व्यक्ति धन-सम्पत्ति ही नहीं कमा सकता प्रत्युत् इनमें उसका जीवन अधिक से अधिक तपस्या और सादगी का रहता है और उसे अपनी आवश्यकतायें अधिक से अधिक कम कर लेनी होती हैं। इसके परिणामस्वरूप उसके जीवन में धन की महत्ता और मोहमाया बहुत कम रह जाती है। ऐसे व्यक्तियों से बने हुए समाज में भी धन की महत्ता और मोहमाया अधिक नहीं रह जाती। जब धन की महत्ता समाज में अधिक न रही तो उससे होने वाले लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अन्याय, अत्याचार और लड़ाई-झगड़े भी समाज में न होंगे और इनसे पैदा होने वाला क्लेश भी राष्ट्र को न भोगना पड़ेगा तथा सभी राष्ट्र-निवासी सुख में रहेंगे।

## वर्णाश्रम मर्यादा की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्णाश्रम-मर्यादा के अनुसार समाज को चलाने के लिए प्रजा के लोगों में तीन वृत्तियों का रहना नितान्त आवश्यक है। एक तो यह कि प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सब शक्ति को प्रजा के कल्याण के लिए हर समय देने के लिए उद्यत रहता हो। दूसरे प्रजा के कल्याण के लिए इस सर्वस्व का दान करते रहने की भावना को जगाने के लिए सब प्रजाजनों को अपना समझना और उनके प्रति प्रेम की भावना का रहना भी प्रत्येक व्यक्ति में नितान्त आवश्यक है और तीसरी वृत्ति जो रहनी आवश्यक है वह यह कि प्रजा के लोग धन के प्रति बहुत अधिक महत्ता और मोह के भाव न रखते हों।

## प्रजाजनों में तीनों वृत्तियों को उत्पन्न करने के साधन

### (क) परस्पर के प्रति प्रेम की भावना जागृत करना

जिससे मनुष्यों में ये तीनों वृत्तियाँ जागती और बढ़ती रहें वेद में इसका उपाय किया गया है। वेद में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के उपदेश किये गये हैं जिनसे मनुष्य में ये वृत्तियाँ उत्पन्न हों। उदाहरण के लिए हम वेद के इस सम्बन्ध के कुछ प्रसंगों की ओर यहाँ निर्देश कर देना चाहते हैं। ऋग्० 10.13.1. में भगवान् कहते हैं—

विश्वे अमृतस्य पुत्राः ।

अर्थात्—'सब नर-नारी उस अमर परमात्मा के पुत्र हैं ।'

जब सब नर-नारी अमर परमात्मा के पुत्र हैं तो यह स्पष्ट है कि सभी आपस में भाई-भाई हैं । और इसीलिए किसी राष्ट्र के लोगों को आपस में एक दूसरे के प्रति भाई-भाई की प्रेमपूर्ण वृत्ति रखनी चाहिए । अथर्ववेद के सांमनस्य सूक्त में निम्न मन्त्र आते हैं—

1. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
   अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथ० 3.30.1.
2. येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
   तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ अथ० 3.30.4.

इनका अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे मनुष्यो तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारे मन समान हों, मैं—ईश्वर—तुम्हारे लिए द्वेषरहित अवस्था को करता हूँ अर्थात् मैं चाहता हूँ कि तुम परस्पर कभी किसी से द्वेष न किया करो, तुम एक दूसरे को प्रेम से चाहो जैसे कि नये उत्पन्न हुए बछड़े को गौ प्रेम से चाहा करती है । (2) जिससे विद्वान् पुरुष एक दूसरे के विरुद्ध नहीं चलते हैं (न वियन्ति) और न ही आपस में एक दूसरे से द्वेष करते हैं, पुरुषों के लिए सम्यक् ज्ञान देने वाले उस वेद को (ब्रह्म) हे मनुष्यो तुम्हारे घरों में हम देते हैं ।

परमात्मा इन दोनों मन्त्रों द्वारा मनुष्यों को परस्पर प्रेम-पूर्वक रहने का उपदेश कर रहे हैं । हमारा प्रेम परस्पर के लिए कितना गहरा होना चाहिए यह प्रथम मन्त्र में दी गई गौ और बछड़े की उपमा से स्पष्ट कर दिया गया है । नये पैदा हुए बछड़े के साथ गौ का जितना गहरा और निःस्वार्थ प्रेम होता है उतना गहरा और निःस्वार्थ प्रेम हमारा आपस में होना चाहिए । प्रेम की ऐसी भावना पैदा करने वाले वेद के उपदेशों का हमें सदा स्वाध्याय करते रहना चाहिए । इसी सूक्त में परमात्मा कहते हैं कि हे मनुष्यो ! यह प्रेम की भावना तुम में इतनी प्रबल होनी चाहिए कि—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः ।

अथ० 3.30.6.

अर्थात् 'तुम्हारा पान समान हो और तुम्हारा अन्न का भाग भी साथ मिलकर ही खाया जाये ।'

पुनः वहीं भगवान् मनुष्यों को सम्बोधन करके कहते हैं—

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्संवननेन सर्वान् ।।

अथ० 3.30.7.

'हे मनुष्यो, मैं तुम सबको मिलकर चलने वाले, समान मन वाले और बाँट कर खाने द्वारा (संवननेन) एक समान अन्न खाने वाले (एकश्नुष्टीन्) बनाता हूँ ।'

इस प्रकार वेद के इन और ऐसे ही अन्य अनेक स्थलों में यह स्पष्ट उपदेश किया गया है कि सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं और सबको परस्पर प्रेमपूर्वक मिलकर रहना चाहिए तथा सबको खान-पान आदि भोगों का मिलकर उपभोग करना चाहिए । इसलिए वैदिक राष्ट्र के निवासियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे आपस में इसी प्रकार के गहरे और निःस्वार्थ प्रेम की भावना से एक दूसरे के साथ बरताव करें ।

### (ख) दान की भावना को जागृत करना

हमें अपनी शक्तियों को दूसरों के कल्याण के लिए सदा निःसंकोच होकर दान करते रहना चाहिए ऐसा उपदेश भी वेद में स्थान-स्थान पर किया गया है । उदाहरण के लिए ऋग्वेद के दक्षिणा सूक्त (ऋग्० 10.107.) और दान सूक्त (ऋग्० 10.117.) इसी प्रकार के उपदेशों से भरे हुए हैं । इन सूक्तों में से कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

1. न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिषन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः ।
   इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ।।
   ऋग्० 10.107.8.
2. दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति । ऋग्० 10.107.5.
3. भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म । ऋग्० 10.107.10.
4. भोजः शत्रून्समनीकेषु जेता । ऋग्० 10.107.11.
5. उतो रयिः पृणतो नोप दस्यति । ऋग्० 10.117.1.
6. य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
   स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते ।।
   ऋग्० 10.117.2.
7. स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
   अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ।। ऋग्० 10.117.3.
8. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
   नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ।।
   ऋग्० 10.117.6.

9. कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात् ॥

ऋग्० 10.117.7.

अर्थात्, (1) दूसरों को खिलाने वाले (भोजाः) कभी मरते नहीं हैं, कभी दुर्गति को (न्यर्थं) प्राप्त नहीं होते हैं, कभी हिंसित नहीं होते हैं, कभी उन्हें व्यथा प्राप्त नहीं होती है, जो कुछ यह सब जगत् है अर्थात् सब जगत् का ऐश्वर्य और सब सुख (स्वः) दान में दी हुई दक्षिणा इन दानियों को प्रदान करती है । (2) दान में दक्षिणा देने वाला नगरों और जनसमूहों का नेता (ग्रामणीः) होकर सबके आगे चलता है । (3) दूसरों को खिलाने वाले का घर खिले हुए कमलों वाले सरोवर की भाँति खिला रहता है । (4) दूसरों को खिलाने वाला युद्ध में शत्रुओं को जीतने वाला बन जाता है । (5) दान देने वाले का (पृणतः) धन कभी क्षीण नहीं होता है । (6) जो अन्नवान् होकर भी दुर्बल (आध्राय) भूख और दारिद्रय से मारे हुए (रफिताय) पास आकर अन्नों की याचना करने वाले के लिए (चकमानाय) अपने मन को कठोर (स्थिरं) कर लेता है और उससे पहले ही अपने अन्नादि का सेवन करने लग जाता है उसे भी आवश्यकता होने पर कोई सुख देने वाला नहीं मिलता है । (7) वही असल में भोजन करने वाला (भोजः) होता है जो अन्न के अभाव के कारण दुर्बल, अन्न की कामना से फिर रहे माँगने वाले को दान करता है, ऐसे दानी के पास उपभोग के लिए सदा पर्याप्त (अरं) रहता है और वह युद्धादि के लिए प्रस्थान काल की पुकार में (यामहूतौ) पराये लोगों में (अपरीषु) भी अपने लिए मित्र बना लेता है । (8) मैं ईश्वर सत्य कहता हूँ कि दान न करने वाला हृदयहीन अज्ञानी (अप्रचेताः) अन्न को व्यर्थ ही प्राप्त करता है, वह अन्न उसकी हत्या करने वाला ही होता है, जो अपने अन्न से न किसी भले मन वाले (आर्यमणं)[1] याचक की ओर न ही किसी आवश्यकता में पड़े हुए मित्र की पुष्टि करता है, वह अकेला ही खा जाने वाला (केवलादी) अदानी पुरुष अन्न नहीं खाता वह तो केवल पाप खाने वाला (केवलाघः) है । (9) भूमि को खोदता हुआ (कृषन्) हल कृषिकार को अन्न का भोक्ता (आशितं) बना देता है, आगे-आगे चलता हुआ यात्री अपने पगों से मार्ग को छोड़ता चलता है, बोलकर ज्ञान को बताने वाला ब्राह्मण (ब्रह्मा) उपदेश न करने वाले से (अवदतः) अधिक प्रियकारी होता है और दान करने वाला (पृणन्) प्रापक जन दान न करने वाले का अभिभव कर लेगा अर्थात् उससे श्रेष्ठ रहेगा ।

[1] सायण आदि ने "अर्यमणं" ऐसा पाठ मानकर अर्यमा नामक देवता अर्थ कर दिया है । इस दान की शिक्षा के प्रसंग में यह जँचता नहीं है । हमने इसीलिए "आर्यमणं" ऐसा पदच्छेद करके आर्य मन वाला याचक ऐसा अर्थ कर दिया है । इससे दान कैसे लोगों को देना चाहिए इसकी सूचना भी मिल जाती है ।

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का भाव यह है कि जिस प्रकार हल स्वयं परिश्रम करके उत्पन्न किये हुए अन्न को किसान के लिए दे देता है और जिस प्रकार आगे-आगे चलने वाला यात्री मार्ग का पता लगाकर औरों के लिए रास्ता खोल देता है अर्थात् ये दोनों अपने परिश्रम से उपार्जित अन्न और मार्ग-ज्ञान को दूसरे के लिए दे देते हैं उसी प्रकार ब्राह्मणों को अपनी विद्या और अन्य लोगों को अपना धनादि ऐश्वर्य दूसरे के लिए दान करते रहना चाहिए। क्योंकि दानी अदानी से श्रेष्ठ होता है।

इन मन्त्रों में दान का जितना सुन्दर उपदेश दिया गया है उसे पाठक देख रहे हैं। दानी का दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। दान देने वाले के लिए कभी सुख की कमी नहीं रहती। दानी की दान की हुई शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। वह उलटा बढ़ती है। दानी का धन भी बढ़ता ही है। दानी के घर में सदा प्रसन्नता और सुख-चैन रहता है। उसके घर के निवासियों के चेहरे सदा कमल की तरह खिले रहते हैं। दानी लोगों का नेता बन जाता है। वह अपने शत्रुओं को भी मित्र बना लेता है। युद्धों में उसकी जीत होती है। जो अपनी शक्तियों का दान करके आवश्यकता वालों की सहायता नहीं करता है, आवश्यकता पड़ने पर उसकी भी कोई कभी सहायता नहीं करेगा। इसलिए हमें अपना मन दान के लिए कभी कठोर नहीं बनाना चाहिए। जो अपनी अन्नादि शक्तियों का स्वार्थ में भरकर खुद ही उपभोग करता रहता है, उससे आवश्यकता वालों की आवश्यकता पूरी नहीं करता है, वह हृदय-हीन आदमी पाप का भोजन करता है। वह पाप का भोजन उसे मार देगा। जब हल और भूमि जैसी जड़ चीजें भी अपनी उपार्जित चीजों को दूसरों के कल्याण के लिए दान कर देती हैं तब मनुष्यों को तो परस्पर के कल्याण के लिए दान करते रहना ही चाहिए। अपनी शक्तियों का उपभोग आदमी को कभी अकेले नहीं करना चाहिए। उसे उनका उपभोग सबके साथ मिलकर करना चाहिए। यह इन मन्त्रों का सरल, सीधा और स्पष्ट उपदेश है।

वेद के इस उपदेश के अनुसार मनुष्य मात्र का जीवन दान का जीवन होना चाहिए। वेद के इस उपदेश के अनुसार चलते हुए किसी भी राष्ट्र के निवासियों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे अपने राष्ट्र की प्रजाओं के कल्याण के लिए सदा अपनी अन्न, धन, बल और ज्ञान आदि की शक्तियों का दान करते रहें।

**शतपथ की एक कथा**—शतपथ ब्राह्मण में एक कथा आती है कि देव और असुर, प्रजापति की दोनों सन्तानें, विजय प्राप्त करने के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। असुरों में सब लोग बड़े अभिमानी थे। वे किसी को अपने से बड़ा नहीं मानते थे, अपने को ही सबसे बड़ा और महत्त्वशाली मानते थे। इसलिए वह दूसरों के खाने-पीने की चिन्ता नहीं करते थे। वे अपने-अपने खाने-पीने की ही चिन्ता करते

थे। अतः जब उनके आगे कोई खाद्य-सामग्री आती थी तो वे दूसरों का विचार न करके उस खाद्य-सामग्री का अपने-अपने मुँह में ही हवन करने लगते थे, उसे स्वयं ही खाने लगते थे। ऐसा करने के कारण असुरों की पराजय हो गयी। दूसरी ओर देवों में से किसी को भी अपने मुँह की चिन्ता नहीं थी, अपना पेट भरने और अपनी भूख मिटाने की चिन्ता नहीं थी। उनमें से प्रत्येक को दूसरों के मुँह की चिन्ता थी, दूसरों का पेट भरने और दूसरों की भूख मिटाने की चिन्ता थी। इसलिए जब देवों के आगे कोई खाद्य सामग्री आती थी तो वे एक-दूसरे के मुँह में उसका हवन करने लगते थे, एक-दूसरे की भूख मिटाने की चेष्टा करने लगते थे। देवों का ऐसा करना यज्ञरूप हो जाता था। यज्ञरूप आचरण करने के कारण देव लोग विजयी हो गये।[1]

शतपथकार ने वेद के उपर्युक्त मन्त्रों में कहे हुए भाव को ही इस रोचक कथा द्वारा प्रदर्शित किया है। कथा का भाव यह है कि जो लोग स्वार्थी हैं, जिन्हें अपने-अपने पेट और अपने-अपने मुँह की ही चिन्ता रहती है वे असुर हैं। और अन्त में उनकी पराजय होगी। जो लोग परोपकारी हैं, जिन्हें अपने मुँह और पेट की परवाह नहीं है प्रत्युत दूसरों के मुँह और पेट की परवाह है, जो अपनी भूख को मिटाने की उतनी चिन्ता नहीं करते जितनी दूसरों की भूख को मिटाने की, जिन्हें अपने सुख का उतना ध्यान नहीं है जितना दूसरों के सुख का, वे लोग देव हैं और अन्त में उन्हीं की विजय होगी।

### (ग) धन को अधिक महत्त्व न देने की भावना को जागृत करना

धन को बहुत अधिक महत्ता न देना और उसके लिए बहुत अधिक मोह न रखना यह भी वेद में बहुत सिखाया गया है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम सम्बन्धी उपदेशों में यही मनोवृत्ति उत्पन्न की जाती है। दान सम्बन्धी उपदेशों में भी प्रकारान्तर से यही मनोवृत्ति जगाई जाती है कि हमें अपने लिए धन को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। उसके अतिरिक्त वेद के,

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः।

ऋग्० 10.117.5.

अर्थात् 'धन रथ के पहियों की भाँति फिरते रहते हैं वे एक को छोड़कर दूसरे के पास जाते रहते हैं।'

[1] (1) देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः। पस्पधिरे ततोसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुहुवतश्चेरुस्तेतिमानेनैव पराबभूवुस्तमान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः। (2) अथ देवाः। अन्योन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो हैषाभास यज्ञो हि देवानामन्नम्। शतपथ० 11.1.8.1, 2।

इस प्रकार के कथनों में भी यही बात सिखाई गई है। इस कथन का मर्माशय यह है कि जो धन स्थिर नहीं हैं, जो रथ के पहियों की तरह घूमते हैं और इसीलिए एक को छोड़कर एक दूसरे के पास जाते रहते हैं, भला उन धनों को क्या अधिक महत्ता देनी और उनके लिए क्या अधिक मोह करना ? और उन्हें अनुचित महत्ता देकर क्यों संसार में अन्याय-अत्याचार बढ़ाना और उसे क्यों दुःख में निमग्न करना ?

इस प्रकार वर्णाश्रम-मर्यादा की आधारभूत इन तीनों मनोवृत्तियों का उपदेश वेद में दिया गया है और उस उपदेश के द्वारा मनुष्य को विश्व-बन्धुत्व के मार्ग पर चलाया गया है। ये उपदेश वस्तुतः किसी एक देश और एक जाति और एक राष्ट्र के लोगों के लिए नहीं हैं। ये सारी मनुष्य जाति के लिए हैं। प्रत्येक मनुष्य में सारी मनुष्य जाति के लिए इस प्रकार के बन्धुत्व, प्रेम और उपकार के भाव रहने चाहिए, तभी संसार का कल्याण हो सकता है। जब हमें मनुष्य-मात्र के लिए ऐसे भाव रखने चाहिए तो अपने-अपने राष्ट्र के लोगों के प्रति तो इस प्रकार के भाव अवश्य ही रखने चाहिए।

जो राष्ट्र वर्णव्यवस्था के अनुसार समाज और राष्ट्र का संघटन करना चाहता है उसे अपने सब बालक और बालिकाओं को इस विश्व-बन्धुत्व की भावना में शिक्षित और दीक्षित करना होगा।

# असमानता और सम्पत्ति का संविभाजन

## 1. आधारभूत असमानता

वर्णाश्रम-व्यवस्था के सिद्धान्त में मनुष्यों की आधारभूत असमानता को स्वीकार किया गया है। सब मनुष्यों में एक समान शक्ति नहीं है, सबकी रुचियाँ एक समान नहीं हैं, सबकी योग्यता एक समान नहीं हो सकती और इसीलिए सब एक जैसे कार्य भी नहीं कर सकते। मनुष्य अनेक दृष्टियों से असमान हैं। वर्णव्यवस्था इस बात को मानकर चलती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का सिद्धान्त कहता है कि क्योंकि सब मनुष्य असमान हैं इसलिए हमें मनुष्यों की रुचि और शक्ति को देखकर उसी के अनुसार उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए और फिर उन्हें उनकी योग्यता और रुचि के अनुसार राष्ट्र में कार्यभार और उत्तरदायित्व सौंपना चाहिए। और उनके द्वारा की गई राष्ट्र की सेवा का प्रतिफल भी उन्हें उनकी रुचि के अनुसार ही देना चाहिए।

भोजन, वस्त्र, औषध, घर और शिक्षा—ये पाँच आलम्बन पदार्थ तो राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को मिलने ही चाहिए। ये चीजें प्राप्त होने पर भी मनुष्य की चाह कुछ और भी बनी रहती है। वह चाह तीन रूपों में प्रकट होती है। ज्ञान और यश की कामना, शक्ति की कामना और ऐश्वर्य की कामना। इनमें से भिन्न-भिन्न व्यक्ति रुचि-भेद के कारण भिन्न-भिन्न कामना वाले हुआ करते हैं। राष्ट्र की सेवा के प्रतिफल में भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों की ये भिन्न-भिन्न कामनाएँ पूरी होनी चाहिए। ज्ञान और तज्जन्य यश की कामना वाले ब्राह्मण होते हैं। उनकी यह कामना पूरी होनी चाहिए। उन्हें ज्ञानार्जन के साधन और प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। शक्ति की कामना क्षत्रियों में हुआ करती है। उन्हें शक्ति और शासन मिलना चाहिए। ऐश्वर्य की कामना वैश्यों में हुआ करती है। उन्हें ऐश्वर्य और तज्जनित सुखोपभोग मिलने चाहिए। इस प्रकार योग्यता-भेद और रुचि-भेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिलने से और रुचि के अनुसार ही उसे उसके कार्य का प्रतिफल मिलने से वह

पूर्ण सन्तुष्ट रहेगा और राष्ट्र की अधिक से अधिक सेवा कर सकेगा। और इस प्रकार राष्ट्र सर्वतोमुखी उन्नति करता रहेगा।

## वेद और मनुष्यों की आधारभूत असमानता

मनुष्यों में आधारभूत असमानता है इसका प्रतिपादन वेद में कई जगह किया गया है। इस सम्बन्ध में वेद का निम्न मन्त्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः।।

ऋग्० 10.117.9.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'(हस्तौ) दोनों हाथ (समौचित्) एक जैसे भी हैं, तो भी (समं) समान रूप से (न विविष्टः) कार्यों में व्याप्त नहीं होते अर्थात् एक जैसा काम नहीं कर सकते। (सम्मातरा चित्) एक माँ की पैदा हुई भी दो गौवें (समं) एक समान (न दुहाते) दूध नहीं देती हैं (यमयोः चित्) एक साथ पैदा हुए जुड़वा भाइयों के भी (वीर्याणि) पराक्रम और शक्ति (समा) बराबर (न) नहीं होते (ज्ञातीचित्) एक कुल के भी (सन्तौ) होते हुए दो पुरुष (समं) एक समान (न पृणीतः) पालना और पूर्ति नहीं करते हैं।'

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न योग्यता और शक्ति हुआ करती है, सबमें समान योग्यता और शक्ति नहीं हुआ करती है, इस सिद्धान्त का इस मन्त्र में बड़ा सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। वर्णाश्रम-मर्यादा इस सिद्धान्त को स्वीकार करके चलती है।

## 2. वैयक्तिक सम्पत्ति और उत्तराधिकार

### ममत्व का आधारभूत सिद्धान्त

वर्णाश्रम-मर्यादा के सिद्धान्त में मनुष्य में काम कर रही एक और आधारभूत मनोवृत्ति को स्वीकार किया जाता है। वह वृत्ति है ममत्व की। जब मनुष्य का किसी कार्य के साथ ममत्व जुड़ जाता है तो वह उस काम को बहुत अधिक उत्साह के साथ करता है, उसे अधिक से अधिक समय देता है और उसके लिए सब प्रकार के कष्टों को सहने के लिए तैयार रहता है। हम रोज देखते हैं कि जब एक आदमी किसी काम को किसी दूसरे आदमी का नौकर होकर उसके लिए करता है तो उसकी यह प्रवृत्ति होती है कि वह निश्चित घण्टों में कार्य-स्थान में आकर उस कार्य को कर जाया करे। निश्चित घण्टों से बाहर वह उस काम को नहीं करना चाहता। उन निश्चित

घण्टों के बाद उसे उस काम की कुछ भी चिन्ता नहीं रहती। वह तो उन निश्चित घण्टों के लिए ही अपनी जिम्मेदारी समझता है और वह भी बहुत वार अधूरे मन से। परन्तु जब वह आदमी उसी काम को अपना समझकर स्वतन्त्र रूप से अपने लिये करता है तो फिर उसके घण्टों का प्रश्न नहीं रह जाता। वह चौबीसों घण्टे उसे करने के लिए उद्यत रहता है। रात-रात भर जागकर करना पड़े तो भी वह उस काम को करता है। हर समय उसे उस काम का ध्यान रहता है। वह उसके लिए किसी कष्ट को कष्ट नहीं गिनता। एक शब्द में, वह उस काम में अपने आपको तन्मय कर देता है। ममत्व के रहने और न रहने से किसी काम के करने में इतना भेद पड़ जाता है।

मनुष्य का यह ममत्व अपने तक ही सीमित नहीं रहता। अपनी सन्तान के साथ भी आदमी का ममत्व अपने जैसा ही होता है। सन्तान को मनुष्य अपना रूप ही समझता है। किसी काम का लाभ अपने को मिलने की अवस्था में आदमी जितनी तत्परता से उस काम को करता है उतनी ही तत्परता से वह उस अवस्था में भी किसी काम को करता है जबकि उसका लाभ उसकी सन्तान को मिलना हो। प्रत्युत जब किसी काम को मनुष्य करता है तो वह उसके लाभ को जहाँ स्वयं लेना चाहता है वहाँ अपनी सन्तान को भी देना चाहता है। मनुष्य अपने और अपनी सन्तान के साथ लगभग एक जैसा प्रेम करता है। इसीलिए वह अपने उपार्जित लाभ को अपनी सन्तान को भी देना चाहता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की मर्यादा में मनुष्य की इस ममत्व की वृत्ति से लाभ उठाया गया है। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा में प्रत्येक वर्ण के गृहस्थ को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने-अपने वर्ण के कर्तव्य-कर्मों को सुखपूर्वक करने के लिए आवश्यक साधन सामग्री और सम्पत्ति को उपार्जित कर सके और फिर उसे उत्तराधिकार में अपनी सन्तानों को भी दे सके। यह ममत्व की वृत्ति पर आश्रित वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार देने से राष्ट्र के व्यक्ति अपने-अपने निर्धारित काम को अधिक तत्परता और मनोयोग से करेंगे। इससे चीजें अधिक उत्कृष्ट और अधिक मात्रा में उत्पन्न होंगी। परिणामस्वरूप राष्ट्र को अधिक लाभ होगा—राष्ट्र अधिक उन्नत होगा। इसके साथ ही इस पद्धति में काम करने वाला व्यक्ति अधिक कष्ट-सहिष्णु, अधिक परिश्रमी, अधिक उत्साही, अधिक साहसी, अधिक निडर, अधिक स्वावलम्बी, अधिक क्रियाशील, अधिक अनुभवी और अपने विषय का अधिक ज्ञाता बन जायेगा। दूसरे शब्दों में उसके व्यक्तित्व का अधिक विकास इस पद्धति में होगा और इससे भी परिणामतः राष्ट्र का अधिक लाभ होगा—राष्ट्र अधिक उन्नत होगा।

## वेद और सम्पत्ति का उत्तराधिकार

अपनी अर्जित सम्पत्ति के स्वामी हों और उसे उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकें ऐसे निर्देश वेद में कई जगह मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः। ऋग्० 1.73.1.
2. ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः। ऋग्० 1.73.9.
3. रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे। ऋग्० 7.32.3.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) जो अग्नि पिता से प्राप्त होने वाले (पितृवित्त) धन की (रयिः) भाँति हमें अन्न (वयः) देने वाला है।

इस उपमा में अग्नि को पिता से प्राप्त होने वाले धन जैसे धन देने वाला कहा गया है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि वेद की सम्मति में पिता की सम्पत्ति पुत्र को उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकती है।

(2) पिता से पुत्र को, इस प्रकार परम्परा से प्राप्त होने वाले (पितृवित्तस्य) धन के (रायः) स्वामी होते हुए हमारे विद्वान् पुत्र सौ वर्ष तक भोगों को प्राप्त करते रहें।

इस मन्त्र में भी यह स्पष्ट निर्देश है कि सम्पत्ति पिता से पुत्र के पास उत्तराधिकार में जा सकती है। धन के स्वामी होते हुए—'रायः ईसानासः'—इस कथन से यह भी स्पष्ट सूचित होता है कि वेद सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व भी स्वीकार करता है और इसीलिए सम्पत्ति के उत्तराधिकार में सन्तानों को दिये जाने का निर्देश है।

(3) धन की कामना वाला मैं वज्रधारी और उत्तम दक्षिणा देने वाले इन्द्र को पुकारता हूँ जैसे कि पुत्र पिता को पुकारता है।

जैसे धन की कामना वाला पुत्र पिता को पुकारा करता है वैसे ही धन की कामना वाला मैं इन्द्र को पुकारता हूँ। इस उपमा से भी यह निर्देश निकलता है कि पिता की सम्पत्ति उसकी अपनी है और वह उसे अपने पुत्र को दे सकता है। इसी प्रकार ऋग्वेद 7.4.7 में कहा है—

नित्यस्य रायः पतयः स्याम।

अर्थात् 'हम नित्य रहने वाले धन के पति बनें।'

इस मन्त्र से भी यह साफ प्रकट होता है कि वेद की सम्मति में सम्पत्ति

अर्जन करने वाले के पास सदा रह सकती है और उसका पति अर्थात् स्वामी होता है और इसीलिए वह उसे उत्तराधिकार में अपने पुत्रों को भी दे सकता है।

इस प्रकार मनुष्य में पाई जाने वाली ममत्व की वृत्ति पर आश्रित सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का सिद्धान्त और सम्पत्ति को उत्तराधिकार में देने का सिद्धान्त वर्णाश्रम-मर्यादा में स्वीकार किया जाता है। यह ठीक है कि संन्यासी और ऊँची ब्राह्मण वृत्ति के कुछ लोग राष्ट्र में ऐसे भी रहते हैं जो ममत्व की वृत्ति को सर्वथा जीत लेते हैं और निःस्वार्थ भाव से परोपकार की इस भावना से ही अपने सब काम करते हैं। पर ऐसे देव पुरुषों की संख्या राष्ट्र में सदा थोड़ी रहती है। अधिकांश लोग ममत्व से प्रेरित होते हैं। इन अधिकांश लोगों को ध्यान में रखकर ही वर्णव्यवस्था की मर्यादा में वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया है।

### 3. राष्ट्र में कोई भूखा नहीं रहना चाहिए

वर्णाश्रम-मर्यादा के अनुसार चलने वाले राष्ट्र में कोई भी प्रजाजन भूखा नहीं मरना चाहिए। इस मर्यादा पर चलने वाला राष्ट्र सदा यह देखेगा कि प्रत्येक प्रजाजन की क्षुधा की निवृत्ति अच्छी तरह हो रही है—उसके पेट की ज्वाला भली-भाँति शान्त हो रही है। इस सम्बन्ध में वेद बहुत बल-पूर्वक बोलता है। प्रजाजनों के भूखे मरने को वेद सहन नहीं कर सकता। वेद के इस विषयक एक-दो प्रसंग यहाँ देखने योग्य हैं—

1. मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्। ऋग्० 10.101.8.
2. त्वं शुष्णमवातिरः। ऋग्० 1.11.7.
3. क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः। ऋग्० 1.104.7.
4. न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः। ऋग्० 10.117.1.

इन मन्त्र-खण्डों का अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे मनुष्यो तुम्हारी भोजन सामग्री (चमसः) बह न जावे—क्षीण न हो जावे—उसे दृढ़ करके रखो।

(2) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम प्रजाओं के शोषण के हेतु कारणों को मार डालो। प्रजाओं के जीवन का शोषण नहीं होना चाहिए। उन्हें अन्नादि के अभाव में सूखने नहीं देना चाहिए। अन्नादि की प्राप्ति से उनका जीवन सदा हरा-भरा रहना चाहिए। अन्नादि के अभाव आदि प्रजा के शोषक कारणों को मारते रहना राजा का कर्तव्य है।

(3) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम भूखों के लिए अन्न (वयः) और दुग्धादि रसीले पदार्थ (आसुति) प्रदान करो।

राष्ट्र में कोई भूखा नहीं रहना चाहिए। भूखों की भूख मिट रही है, उन्हें खाने-पीने को यथेष्ट अन्न और दुग्धादि पदार्थ मिल रहे हैं यह देखना राजा का कर्तव्य है।

(4) देवों ने किसी भी प्रजाजन के लिए भूख को मरने का साधन बनाकर नहीं दिया है।

देव नहीं चाहते कि कोई प्रजाजन भूख से मरे। उन्होंने भूख को मरने का साधन नहीं बनाया है। देव तो यह चाहते हैं कि सबको खाने के लिए यथेष्ट अन्न मिलना चाहिए जिससे राष्ट्र में कोई भी भूखा न रह सके। वेद की यह स्पष्ट सम्मति है। यदि किसी राष्ट्र में लोगों का कोई भाग भूखा रहता हो तो वह राष्ट्र वैदिक नहीं है। इसलिए वेद-सम्मत वर्णाश्रम-व्यवस्था से मर्यादित राष्ट्र में कोई भी प्रजाजन भूखा नहीं रहने दिया जायेगा। उसमें सबकी भूख के निवारण का उपाय होगा, फिर, भूख तो एक उपलक्षण है। प्रजाजनों की सभी आवश्यकताएँ वैदिक राष्ट्र में पूरी की जायेंगी जैसाकि हम इस ग्रन्थ में देखते आ रहे हैं।

## 4. राज्य सबके लिए उचित सम्पत्ति की व्यवस्था करेगा

वेद में स्थान-स्थान पर सम्राट् को प्रजाओं को ऐश्वर्य देने वाला कहा गया है। वेद में स्थान-स्थान पर प्रजाजन सम्राट् से भाँति-भाँति का ऐश्वर्य प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं। इस सम्बन्ध में वेद का एक बार पाठ कर लेना पर्याप्त है। इस ग्रन्थ में भी जगह-जगह पाठक इस प्रकार के वैदिक उद्धरणों को देखते आ रहे हैं। इसलिए यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक मन्त्र उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ थोड़े-से मन्त्र उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। निम्न मन्त्र देखिये—

1. सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम्। ऋग्० 1.9.5.
2. कृणुष्व राधः। ऋग्० 1.10.7.
3. पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्ति। ऋग्० 1.11.3.
4. सहस्रं यस्य रातय। ऋग्० 1.11.8.
5. नकिष्ट एता, व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टिं चकर्थ। ऋग्० 1.69.7.
6. अस्माँ इन्द्र वसौ दधः। ऋग्० 1.81.3.
7. सं गृभाय पुरू शतो भयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर। ऋग्० 1.81.7.
8. सं राया भूयसा सृज मयोभुना तुविद्युम्न यशस्वता। ऋग्० 3.16.6.

9. अग्ने श्रवांसि धेहि नस्तनूषु । ऋग्० 3.19.5.
10. वस्वो राशिमभिनेतासि भूरिम् । ऋग्० 4.20.8.
11. अस्मे विश्वानि द्रविणानि धेहि । ऋग्० 5.4.7.
12. नवा नो अग्न आ भर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः । ऋग्० 5.6.8.
13. त्वमग्ने विशेविशे वयो दधासि । ऋग्० 5.8.5.
14. राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर । ऋग्० 5.39.1.
15. विश्वा द्युम्ना वृष्ण्या मानुषाणामस्मभ्यं दा हरिवो मादयध्यै । ऋग्० 6.19.6.
16. इन्द्रो वाजस्य स्थविरस्य दाता । ऋग्० 6.37.5.
17. अनूना यस्य दक्षिणा । ऋग्० 7.27.4.
18. नकिर्वक्ता न दादिति । ऋग्० 8.32.15.

इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम हमारी ओर वरण करने योग्य अद्भुत धन भेजो। (2) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम हमारे लिए धन बनाओ। (3) इन्द्र (सम्राट्) के धन-दान भरे-पूरे (पूर्वीः) हैं वे कभी क्षीण नहीं होते हैं। (4) जिस इन्द्र (सम्राट्) के हजारों प्रकार दान हैं। (5) हे अग्नि (सम्राट्) ये प्रजाजन तुम्हारे किसी व्रत को नहीं तोड़ते हैं क्योंकि तुमने इनके लिए अन्न दिया है। (6) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम हमें धन में रखो। (7) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम सैंकड़ों प्रकार का बहुत-सा धन दोनों हाथों में लेकर हमारे ऐश्वर्य के लिये हमें दो और हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण करो (शिशीहि)। (8) हे अग्ने (सम्राट्) बहुत धन वाले तुम हमें सुखदायक और यश देने वाले बहुत सारे धन से युक्त कर दो। (9) हे अग्ने (सम्राट्) तुम हमारे शरीरों में अन्नों को डालो। (10) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम बहुत बड़ी धन की राशि को प्राप्त कराने वाले हो। (11) हे अग्नि (सम्राट्) तुम हमारे लिये सब प्रकार के धनों को दो। (12) हे अग्नि (सम्राट्) तुम तुम्हारी प्रशंसा करने वाले हम लोगों के लिए उत्तम निवास देने वाले नये-नये अन्न दो। (13) हे अग्नि (सम्राट्) तुम प्रत्येक प्रजाजन के लिए अन्न देते हो। (14) हे धन वाले इन्द्र (सम्राट्) तुम दोनों हाथों से हमें वह अपना धन दो। (15) हे इन्द्र (सम्राट्) मनुष्यों के योग्य, सुख की वर्षा करने वाले सब प्रकार के धन तुम हमें हमारे हर्ष के लिए दो। (16) इन्द्र (सम्राट्) बड़े अन्न का देने वाला है। (17) जिस इन्द्र (सम्राट्) का दान दान (दक्षिणा) कम नहीं है। (18) इन्द्र (सम्राट्) के विषय में कोई भी यह नहीं कह सकता कि उसने मुझे कुछ नहीं दिया है।

वेद के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि वेद में सम्राट् का या तदुपलक्षित

राज्य का यह कर्तव्य बताया गया है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को अन्न, धन आदि ऐश्वर्य प्रदान करे। कोई प्रजाजन यह न कह सके कि राज्य की ओर से कुछ नहीं मिला। वेद में एक जगह कहा गया है—

अविप्रे चिद् वयो दधत्।

ऋग्० 6.45 2.

अर्थात्—'इन्द्र (सम्राट्) जो विप्र नहीं है उसे भी अन्न देता है।'

विप्र के दो अर्थ होते हैं। एक विद्वान् और दूसरा ब्राह्मण। ब्राह्मण को भी विप्र इसीलिए कहते हैं कि वह विद्वान् होता है। राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को अन्न प्रदान करे। चाहे कोई ब्राह्मण हो, या अब्राह्मण और चाहे कोई विद्वान् हो या अविद्वान्। राष्ट्र में भूखा कोई नहीं रहना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि राज्य प्रजाजनों को अन्न, धन आदि की सम्पत्ति प्रदान किस प्रकार करेगा ? इस प्रश्न का समाधान अगले खण्डों में होगा।

## 5. सब प्रजाजनों को श्रम करना होगा

अभी ऊपर के खण्ड में हमने देखा है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रजाओं के लिए अन्न, धन आदि सम्पत्ति प्राप्त हो सकने की व्यवस्था करे। इसके लिए राज्य एक बात तो यह करेगा कि वह सब प्रजाजनों को कोई न कोई श्रम करने के लिए बाधित करेगा। राज्य में कोई व्यक्ति निकम्मा नहीं रह सकेगा। हर किसी को कोई न कोई काम करना होगा। लोगों को आलसी नहीं रहना चाहिए। उन्हें निरुद्यमी होकर दूसरों की कमाई पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए, स्वयं परिश्रम करके खाना चाहिए। इस प्रकार के उपदेश वेद में स्थान-स्थान पर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए निम्न कुछ मन्त्र देखिये—

1. पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
ऋग्० 2.28.9.
2. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋग्० 4.33.11.
3. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ ऋग्० 8.2.18.
4. असुन्वन्तं समं जहि। ऋग्० 1.176.4.
5. वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधः। ऋग्० 1.101.4.

इनका अर्थ इस प्रकार है :—

(1) हे राजन् ! मेरे द्वारा किये हुए ऋणों को दूर कर दो, मैं किसी दूसरे द्वारा कमाये हुए से भोजन न करूँ।

इस प्रार्थना का स्पष्ट अभिप्राय है कि हमें दूसरों से ऋण लेकर उनकी कमाई पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। हमें अपने परिश्रम की कमाई पर जीना चाहिए। राजा को राज्य में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि सब कोई अपना-अपना काम कर सके।

(2) इन्द्रादि देव जो श्रम नहीं करता है उसकी मित्रता के लिए नहीं है।

इन्द्रादि राज्याधिकारी देव लोग उसी के साथ मित्रता रखते हैं जो श्रम करता है। आलसी और निरुद्यमी के वे मित्र नहीं होते। वे श्रम करने वाले की ही सहायता करते हैं, दूसरे की नहीं।

(3) इन्द्रादि देव जो कुछ न कुछ उत्पन्न करता रहता है (सुन्वन्तम्) उसी को चाहते हैं, सोया पड़ा रहने वाले आलसी को वे नहीं चाहते, वे देव स्वयं भी आलस्य-रहित (अतन्द्राः) होकर सुख देने वाले (प्रमादं)[1] कर्मों को करते रहते हैं।

इन्द्रादि राज्याधिकारी देव आलसी व्यक्ति को पसन्द नहीं करते। जो उद्यम करता रहता है—कुछ न कुछ उत्पादन करता रहता है उसी को वे पसन्द करते हैं। वे स्वयं भी आलसी नहीं हैं। श्रम करते रहते हैं। वे प्रजा में भी किसी को आलसी नहीं रहने देते। प्रत्येक प्रजाजन से श्रम कराते हैं।

(4) हे इन्द्र (सम्राट्) कुछ भी उत्पन्न न करने वाले (असुन्वन्तं) सब लोगों को (समं) मार दो। जो इन्द्र (सम्राट्) कुछ भी उत्पन्न न करने वाले (असुन्वतः) व्यक्ति का वध करने वाला (वधः) है।

इस प्रकार जब सब प्रजाजन श्रम करेंगे, तब प्रत्येक राष्ट्र में इतना अधिक उत्पादन होगा कि प्रत्येक प्रजाजन को खाने-पीने, पहिनने आदि के लिए पर्याप्त मिल सकेगा। कोई किसी प्रकार के अभाव में नहीं रहेगा। इस प्रकार सब राष्ट्र-निवासियों द्वारा उत्पादन के श्रम कराके राष्ट्र के उत्पादन को राज्य बढ़ायेगा जिससे सबको यथेष्ट अन्न, धन आदि की सम्पत्ति मिल सके। एक तो राज्य यह करेगा।

## 6. राज्य उत्पादन के नये-नये मार्गों का पता लगायेगा

जिससे सब प्रजाजन श्रम कर सकें, सबको कोई न कोई काम करने के लिए मिल सके, कोई निकम्मा न रहे इसके लिए राज्य एक काम यह भी करेगा कि वह उत्पत्ति के नये-नये मार्गों का पता लगायेगा। और उनके सम्बन्ध की शिक्षा का प्रचार राष्ट्र में करेगा। स्थान-स्थान पर वेद में इस विषयक निर्देश मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये :—

1. राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री। ऋग्० 8.97.13.
2. अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भागमिन्द्रा भरा नः। अथ० 20.89.3.

[1] प्रकर्षेण मदकरं हर्षकरं कर्म।

इनका अर्थ इस प्रकार है :—

(1) वज्रधारी इन्द्र (सम्राट्) हमारे ऐश्वर्य के लिए सब प्रकार के (विश्वा) उत्तम मार्गों का (सुपथा) निर्माण करे।

राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजाओं का ऐश्वर्य और सम्पत्ति बढ़ाने के लिए सब प्रकार के मार्गों का निर्माण करे। सम्पत्ति कमाने के एक-दो नहीं जितने भी मार्ग हो सकें उनका निर्माण राज्य को करना चाहिए। सम्पत्ति कमाने के नये-नये उपाय राज्य को सोचते रहना चाहिए और उन्हें प्रजाओं को बताते रहना चाहिए।

(2) हे इन्द्र (सम्राट्) मेरी बुद्धि कर्मशील हो जावे, (अप्रस्वती) तुम हमें धन प्राप्त कराने वाला (वसुविदं) बुद्धि का अंश (भागं) प्रदान करो।

इस प्रार्थना का अभिप्राय स्पष्ट है। सम्राट् से कहा जा रहा है कि वह हमें कर्मशील बुद्धि देवे जिसके द्वारा हम धन प्राप्त कर सकें। राज्य भाँति-भाँति के कर्मों की प्रजाजनों को शिक्षा देगा। उन कर्मों को सीखकर उनके द्वारा प्रजाजन धन सम्पत्ति कमा सकेंगे। इस प्रकार राज्य प्रजाओं को सम्पत्ति देगा।

### 7. राज्य व्यापार को प्रोत्साहन देगा

प्रजाजनों की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए राज्य एक काम यह भी करेगा कि वह जहाँ राष्ट्र में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को बढ़ायेगा वहाँ उत्पन्न हुए पदार्थों के व्यापार को प्रोत्साहन देगा। इससे भी राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ेगी फलतः प्रजाजनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें यथेष्ट सम्पत्ति प्राप्त हो सकेगी। व्यापार को प्रोत्साहन देकर राज्य प्रजाओं को सम्पत्ति देगा।

### 8. सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है

पीछे हमने देखा है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था और वेद व्यक्ति को वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार देते हैं। परन्तु पुरुष को अपनी यह वैयक्तिक सम्पत्ति स्वार्थ में भरकर केवल अपने लिए ही संग्रह करके नहीं रखनी चाहिए। उसे इसका दान करते रहना चाहिए। उसे अपनी सम्पत्ति को औरों के साथ मिलकर भोगना चाहिए। वेद का इस प्रकार का भी उपदेश है। वेद का कमाने और देने का आदर्श निम्न मन्त्र में बड़ी सुन्दर रीति से कहा गया है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

अथ० 3.24.5.

अर्थात्, हे पुरुष तू सौ हाथों वाला होकर कमा और हजार हाथों वाला होकर उसे बखेर—उसका दान कर।

## अर्जित सम्पत्ति के दान के चार प्रकार

कमाई सम्पत्ति का यह दान कई प्रकार से हो सकता है—

(क) एक तो यह कि कमाने वाला अपने कर्मचारियों को इतना अधिक वेतन दे कि उनकी सब आवश्यकताएँ अच्छी तरह पूरी होती रह सकें।

(ख) दूसरे यह कि वह उसकी सम्पत्ति पर राज्य द्वारा लगाये गये विभिन्न करों को ईमानदारी के साथ देता रहे—उनसे बचने का प्रयत्न न करे। जिससे राज्य के कार्य अच्छी तरह चलते रह सकें और राज्य कर्मचारियों को राज्य की ओर से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त वेतन मिलता रह सके।

(ग) तीसरे यह कि वह राष्ट्र में चल रही विभिन्न उपयोगी संस्थाओं को अपनी सम्पत्ति में से पुष्कल दान देता रहे जिससे वे संस्थाएँ सुगमता-पूर्वक लोकोपयोगी कार्य करती रह सकें। वह अपनी सम्पत्ति से नई उपयोगी संस्थाएँ भी खोल सकता है।

(घ) चौथे यह कि उसे अपने पास-पड़ोस में जो लोग कष्ट में ग्रस्त और जरूरतमन्द दिखाई दें उनकी सहायता वह अपनी सम्पत्ति में से करता रहे।

जैसा ब्राह्मण अपने ज्ञान को राष्ट्र के लोगों के कल्याण के लिए दान करता रहता है, क्षत्रिय जैसे राष्ट्र के कल्याण के लिए अपना रुधिर तक बहाने के लिए तैयार रहता है, वैसे ही सम्पत्ति कमाने के मार्ग पर चलने वाले वैश्य लोग अपने राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रों की पालना के लिए ऊपर निर्दिष्ट रीतियों से अपनी सम्पत्ति को दान करने के लिए उद्यत रहते हैं। अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा वैश्य को केवल ऐश्वर्य का थोड़ा-सा अधिक उपभोग करने की आज्ञा है। नहीं तो वास्तव में उसकी सम्पत्ति राष्ट्र के लिए ही कमाई जाती है।

प्रारम्भ से ही राष्ट्र के बालकों को इस प्रकार की परोपकारमय जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जायेगी। इस शिक्षा का परिणाम यह होगा कि राष्ट्र के प्रायः सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपनी-अपनी शक्तियों का राष्ट्र के कल्याण के लिए दान करते रहेंगे। परन्तु यदि कोई व्यक्ति स्वार्थ में पड़कर अपनी सम्पत्ति को केवल अपने लिए ही संग्रह करके रख छोड़ेगा और राष्ट्र के कल्याण के लिए उसका उपर्युक्त रीतियों से दान नहीं करेगा तो उसकी सम्पत्ति राज्य द्वारा छीनी भी जा सकती है। इस प्रकार के निर्देश वेद में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये :—

1. अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ।
ऋग्० 1.81.9.
2. अयज्वनो विभजन्नेति वेदः । ऋग्० 1.103.6.
3. यज्वेदयज्योर्वि भजाति भोजनम् । ऋग्० 2.26.1.
4. यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ।
ऋग्० 7.19.1.
5. अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे । ऋग्० 10.48.2.
6. उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् । अथ० 3.20.8.
7. सम्राट् अदित्सन्तं दापयति प्रजानन् । यजु० 9.24.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे इन्द्र (सम्राट्) राष्ट्र के लोगों के कल्याण के लिए अपने धन का दान न करने वाले (अदाशुषाम्) लोगों में रखे हुए धन को सबके स्वामी (अर्यः) तुम अच्छी तरह देख लेते हो (ख्यः) उनके धन को तुम हमें दे दो ।

(2) इन्द्र (सम्राट्) अयज्वा लोगों के धन को प्रजाओं में बाँटता हुआ चलता है ।

लोकोपकार के कामों को यज्ञ कहते हैं । जो लोकोपकार के यज्ञमय काम करे वह यज्वा कहलायेगा । जो ऐसे कार्य न करके केवल स्वार्थ साधन में ही लगा रहे वह अयज्वा कहा जायेगा । सम्राट् ऐसे ही स्वार्थी अयज्वा लोगों के धन को छीनकर प्रजाओं में बाँट देता है ।

(3) ब्रह्मणस्पति स्वयं यज्वा है वह अयज्वा लोगों के भोजन को प्रजाओं में बाँट देता है ।

ब्रह्मणस्पति एक विशेष राज्याधिकारी का नाम है । यहाँ उसे अभेद से सम्राट् ही समझ लेना चाहिए । राज्याधिकारी लोग स्वयं यज्वा हैं । वे स्वयं प्रजाओं के उपकार के कामों में लगे रहते हैं । जो प्रजाजन अयज्वा हैं वे उनके धन को छीनकर प्रजाओं में बाँट देते हैं ।

(4) जो इन्द्र (सम्राट्) अपने धन को प्रजा के कल्याण में दान न देने वाले (अदाशुषः) बड़े-बड़े (शश्वतः) घरों के (गयस्य) धन को भी छीनकर उत्पादन के काम में लगे हुए (सुष्वितराय) लोगों को दे देता है ।

(5) मैं इन्द्र (सम्राट्) दस्यु लोगों से धन छीन लेता हूँ ।

चोर, डाकू, लुटेरे लोगों को दस्यु कहते हैं । राजा ऐसे लोगों के धन को छीन लेता है । जो धन-स्वामी लोग प्रजाजनों की सहायता से धन तो कमा लेते हैं पर उस धन को प्रजा के कल्याण में खर्च नहीं करते हैं वे भी एक प्रकार के दस्यु ही हैं । क्योंकि उन्होंने प्रजाजनों के परिश्रम और समय को लूटकर अपने को धन स्वामी बनाया है ।

ऐसे दस्यु धनपतियों की सम्पत्ति को भी सम्राट् छीन लेता है। वेद में राजा द्वारा शत्रुओं के धन को छीनकर सैनिकों और प्रजाजनों में बाँट देने के वर्णन स्थान-स्थान पर आते हैं। राष्ट्र के सामान्य शत्रुओं के धन के साथ तो ऐसा व्यवहार होगा ही। पर जो धनपति लोग प्रजा के लोगों से लाभ उठाकर स्वयं तो धनी बन जाते हैं पर बदले में प्रजाजनों का कोई लाभ नहीं करते वे भी एक प्रकार के प्रजा के शत्रु ही हैं। उनके धन को भी छीनने की ध्वनि इन शत्रुओं का धन छीनने सम्बन्धी मन्त्रों से निकल सकती है।

(6) सब कुछ जानने और समझने वाला अग्नि (सम्राट्) जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को प्रजाओं के कल्याण के लिए नहीं देना चाहता है (अदित्सन्तं) उससे भी दान दिलवाये।

(7) सब कुछ जानने और समझने वाला सम्राट् जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को प्रजाजनों को कल्याण के लिए नहीं देना चाहता है (अदित्सन्तं) उससे भी दान दिलवाता है (दापयति)।

यह उद्धृत अन्तिम मन्त्र राज्याभिषेक के प्रकरण का है। इस मन्त्र में सीधा ही सम्राट् शब्द का प्रयोग हुआ है। राज्यारोहण के अभिषेक के समय ही राजा का कर्तव्य बता दिया गया है कि जो लोग अपनी सम्पत्ति को प्रजाओं के कल्याण के लिए प्रसन्नता से देना नहीं चाहेंगे राजा उनकी सम्पत्ति को छीनकर प्रजा के कल्याण के कामों में लगवा देगा।

वेद के इन और इसी प्रकार के अन्य स्थलों से यह स्पष्ट सूचित हो जाता है कि जो धनस्वामी अपनी सम्पत्ति को प्रसन्नता से स्वयं राष्ट्र के भले के लिए खर्च न करे राज्य को उसकी सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए।

राजा द्वारा अयज्वा धनपतियों की सम्पत्ति को छीन लिए जाने के इस राज्य-नियम की विद्यमानता का परिणाम यह होगा कि सभी वैश्य और धनपति लोग अपनी सम्पत्ति को अधिक से अधिक परिमाण में राष्ट्र के भले के लिए लगाने में प्रयत्नशील रहेंगे। जब कभी कोई धनपति वैश्य अनुचित स्वार्थ-परायणता का प्रदर्शन करेगा तो इस राजनियम के आधार पर उसकी सम्पत्ति छीन ली जाया करेगी। कभी-कभी किसी प्रदेश के दस-पाँच धनिकों की सम्पत्ति इस प्रकार छीन ली जाने का प्रभाव यह हुआ करेगा कि उस प्रदेश और दूसरे प्रदेशों के भी सभी वैश्य सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण में लगाते रहने के अपने धर्म का भली-भाँति पालन करते रहेंगे। यह राज-नियम पृष्ठभूमि में पड़ा रहकर सब प्रजाजनों को अपने धर्म का पालन करने में सहायक होगा और अभ्यास के कारण प्रजाजनों की यह स्थिति हो जायेगी कि साधारण तौर पर उन्हें इस राजनियम का ध्यान भी नहीं होगा, वे केवल अपना

कर्तव्य समझकर अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण में खर्च कर रहे होंगे। चोरी करने पर दण्ड मिलने का राजनियम जिस प्रकार पृष्ठभूमि में पड़ा रहकर प्रजाओं को चोरी से बचाने में सहायता करता है और अभ्यास से प्रजाजनों की यह स्थिति हो जाती है कि साधारण तौर पर उन्हें इस राजनियम का ध्यान भी नहीं रहता, वे केवल अपना धर्म समझकर ही चोरी से बचे रहते हैं। इसी प्रकार यह अयज्वा लोगों की सम्पत्ति छीन ली जाने का राजनियम भी अपना काम करेगा। वैश्य लोगों को सही मार्ग पर चलाने के लिए केवल यह राजनियमन ही नहीं होगा, प्रत्युत—

## प्रजाजनों को सम्पत्ति के सदुपयोग की प्रेरणा

वर्णाश्रम-व्यवस्था का सारा वायुमण्डल भी, जिसमें धन को अनुचित महत्त्व और प्रतिष्ठा नहीं दी जाती और जिसमें प्रारम्भ से ही बच्चों को लोक कल्याण का 'व्रत' लेकर धन कमाने की शिक्षा दी जाती है, राष्ट्र के वैश्यों को उनका धर्म पालन करने में सहायता देगा। विद्यालयों के अध्यापकों, उपदेशकों, जनता के नेताओं और संन्यासियों के उपदेश और पृष्ठभूमि में पड़ा हुआ अयज्वा लोगों की सम्पत्ति के छीन लिये जाने का यह राजनियम राष्ट्र के वैश्यों की मनोवृत्ति को इतना ऊँचा बना देंगे कि वे अपनी सम्पत्ति को परोपकार में लगाने के अपने पवित्र कर्तव्य से कभी विचलित न हुआ करेंगे।

वर्णव्यवस्था में वैश्यों के लिए यह सम्पत्ति कमाने और फिर उसको लोक कल्याण में लगा देने की व्यवस्था एक ऊँची श्रेणी का आध्यात्मिक सौन्दर्य रखती है। एक तो जब कोई व्यक्ति ममत्व की भावना से प्रेरित होकर कार्य करने चलता है तब जहाँ उसके द्वारा उत्पादन अधिक उत्तम और अधिक मात्रा में होता है वहाँ उसमें, जैसा पीछे दिखाया गया है, अनेक सुन्दर गुण पैदा हो जाते हैं—उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। दूसरे उसमें यह जो भावना पैदा हो जाती है कि मैं कमाता हूँ और फिर उस कमाई को लोकोपकार में लगा देता हूँ यह भावना उसकी आत्मा को और भी ऊँचा और पवित्र कर देती है। उसमें यह जो वृत्ति पैदा हो जाती है कि मैं राष्ट्र का सेवक हूँ और मुझे अपना सब कुछ राष्ट्र के लिए निछावर कर देना चाहिए, यही मेरा धर्म है, यह वृत्ति उसके आतमा में एक निराला आध्यात्मिक सौन्दर्य भर देती है। इस मनोवृत्ति में व्यक्ति की कर्तृत्व और अहंकार की वृत्तियों का भी पूरा सन्तोष हो जाता है और वह अहंकार की वृत्ति उसे गिरावट की ओर न ले जाकर ऊँचाई की ओर ले जाती है। उसे स्वार्थी, अन्यायी और अत्याचारी न बनाकर निःस्वार्थ, परोपकारी, न्यायप्रिय, सहृदय और परदुःखकातर बना देती है। एक शब्द में, उसे अधर्म की ओर न ले जाकर धर्म की ओर ले जाती है। यह वर्णव्यवस्था

की पद्धति की विशेषता है।

इस प्रकार अयज्वा लोगों की सम्पत्ति छीन लिए जाने की व्यवस्था करके भी राज्य एक प्रकार से प्रजाजनों को सम्पत्ति प्रदान करता रहता है।

## 9. भूमि की उपज पर राज्य का नियन्त्रण होगा

जिससे सब प्रजाजनों को खाने-पीने के लिए आवश्यकतानुसार अन्नादि की सामग्री यथेष्ट परिणाम में मिलती रह सके इसके लिए राज्य एक उपाय यह भी करेगा कि वह भूमि की उपज पर अपना नियन्त्रण रखेगा। भूमि की उपज पर राज्य को अपना इस प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिए, इस प्रकार के निर्देश वेद में कई जगह उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए वेद में निम्न मन्त्र देखिये :—

1. अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥

ऋग्० 4.26.2.

2. इन्द्रः सीतां निगृह्णातु। ऋग्० 4.57.7; अथ० 4.17.4.

मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

(1) (अहं) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् (आर्याय) श्रेष्ठ आर्य पुरुष के लिए (भूमिं) भूमि को (अददाम्) प्रदान करता हूँ (अहं) मैं (दाशुषे) अपना देयभाग कर आदि के रूप में राष्ट्र को देने वाले (मर्त्याय) पुरुष के लिए (वृष्टिं) वर्षा को देता हूँ (अहं) मैं (वावशानाः) वेग के साथ शब्द करके चलते हुए (अपः) जलों को (अनयम्) कृषि-भूमियों में पहुँचाता हूँ (देवासः) सब राज्याधिकारी देव (मम) मेरे (केतं) ज्ञान और संकल्प के (अनु आयन्) अनुसार चलते हैं।

सम्राट् द्वारा वर्षा प्रदान करने का अभिप्राय यह है कि एक तो कृत्रिम वर्षा कराने के साधनों द्वारा वह वर्षा कराता है और दूसरे यह कि वह कृषि में सहायक पदार्थों की कृषकों के लिए वर्षा कर देता है अर्थात् बहुलता से प्रदान करता है।

इस मन्त्र में सम्राट् कह रहा है कि वह प्रजा के श्रेष्ठ व्यक्तियों को खेती के लिए भूमि देता है और खेती को सिंचाई के लिए जल का प्रबन्ध करके देता है। सम्राट् या राज्य के द्वारा अच्छे लोगों को भूमि दिये जाने के इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि राष्ट्र की भूमि पर राज्य का नियन्त्रण रहेगा। राष्ट्र की भूमि राज्य की होगी। प्रत्येक अच्छे व्यक्ति को जो खेती करना चाहता है राज्य उस भूमि में से आवश्यकतानुसार भूमि प्रदान करेगा। जब तक इस प्रदान की हुई भूमि पर वह कृषक वैश्य खेती करता हुआ आर्यपन नहीं छोड़ता है, जब तक अपना आचरण श्रेष्ठ रखता हुआ वह खेती का काम ठीक प्रकार से करता रहता है और

उसकी आय का सदुपयोग करता रहता है, तब तक वह भूमि उसकी रहेगी और उत्तराधिकार में उसकी सन्तान को भी मिल सकेगी। यदि वह भी खेती करना चाहती हो। परन्तु आर्यत्व छोड़ने पर, अच्छे वैश्य के कर्तव्यों का पालन करना छोड़ देने पर, उससे और उसकी सन्तान से वह भूमि छीनी भी जा सकती है।

(2) इन्द्र (सम्राट्) सीता पर निग्रह रखे।

सीता उन गहरी लकीरों को कहते हैं जो हल चलाने से खेती की भूमि में पड़ती चलती हैं। यहाँ यह शब्द खेती की भूमि का द्योतक है। निग्रह का अर्थ होता है नियन्त्रण, अधिकार, शासन। राज्य को खेती पर नियन्त्रण रखना चाहिए यह इस मन्त्र में स्पष्ट आदेश किया गया है। यह नियन्त्रण दो प्रकार से हो सकता है। एक तो यह कि राज्य देखे कि सारे राष्ट्र को वर्ष भर के लिए किस-किस अनाज और अन्य कृषिजन्य पदार्थों की कितनी मात्रा में आवश्यकता है और वह पदार्थ कितनी भूमि में पैदा हो सकता है। राज्य उतनी भूमि में ही खेती होने देगा अधिक भूमि में नहीं। दूसरे यह कि राज्य देखे कि राष्ट्र के लिए आवश्यक कृषि पदार्थ उत्पन्न करने के लिए राष्ट्र के कितने लोगों से खेती करवाना आवश्यक है और प्रत्येक कृषक को कृषि के लिए कितनी भूमि दी जानी चाहिए। राज्य उसके अनुसार ही खेती के लिए लोगों को भूमि दे देगा।

क्योंकि भूमि राज्य की है अर्थात् राज्यरूप में संगठित समाज की है और राज्य की ओर से कृषकों को खेती करने के लिए दी गई है और साथ ही क्योंकि खेती के लिए जल का प्रबन्ध भी राज्य को करना है इसलिए खेती की उपज का भी कुछ भाग राज्य लेगा और इस प्रकार यह एक तीसरे प्रकार का नियन्त्रण राज्य की ओर से रहेगा। भूमि की उपज का कितना भाग राज्य लेगा इस पर निम्न मन्त्र से एक निर्देश प्राप्त होता है—

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः।

अथ० 3.24.6.

अर्थात्—'खेती की तीन मात्राएँ तो गन्धर्वों की होंगी और चार मात्राएँ गृहपत्नी की होंगी।'

यह एक कृषि सम्बन्धी सूक्त का ही मन्त्र है। यहाँ गन्धर्व का अर्थ भूमि की रक्षा करने वाले क्षत्रिय राज्याधिकारी लोग होगा। जो गौ अर्थात् भूमि का धारण अर्थात् रक्षण करे वह गन्धर्व है। किसान के और उसके परिवार के लोगों के प्रतिनिधि के रूप में यहाँ गृहपत्नी शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। जिसकी ध्वनि यह भी है कि घर की असल में स्वामिनी तो गृहपत्नी है। खेत की कमाई पति को पत्नी के हाथों में ही सौंप देनी चाहिए। किसान परिवार की प्रतिनिधि गृहपत्नी के साहचर्य में यहाँ

गन्धर्व का अर्थ क्षत्रिय राज्याधिकारी ही अधिक जँचता है।

मन्त्र कहता है कि खेती से जो उपज हो उसके तीन भाग तो राज्य को मिलने चाहिए और चार भाग कृषक के पास रहने चाहिए। खेती की उपज का इतना भाग राज्य द्वारा ले लिया जाता रहने का एक परिणाम यह होगा कि कृषकों के पास आवश्यकता से बहुत अधिक उपज नहीं रह जायेगी और उनके बहुत बड़े-बड़े धनपति बनकर अन्याय-अत्याचार कर सकने की संभावना कम रहेगी। दूसरे, राज्य कृषकों से उपज का जो यह भाग लेगा वह राज्य-कर्मचारियों को वेतन आदि देने के रूप में राष्ट्र के लोगों में ही बँट जायेगा। भूमि की उपज के इस नियन्त्रण द्वारा भी राज्य एक प्रकार से प्रजाजनों को सम्पत्ति प्रदान करेगा।

इन मन्त्रों में कृषि और कृषि की भूमि के नियन्त्रण की ओर ही निर्देश किया गया है। इसके आधार पर उत्पत्ति के अन्य साधनों और सम्पत्ति के अन्य रूपान्तरों पर भी राज्य अपना नियन्त्रण रख सकता है। उस नियन्त्रण का रूप और उसकी मात्रा कितनी होगी यह देशकाल के अनुसार निश्चित होता रहेगा।

## 10. धन का संविभाजन

वेद में स्थान-स्थान पर सम्राट् को प्रजाओं में धन का संविभाजन करने वाला—धन को प्रजाओं में बाँटने वाला—कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।

ऋग्० 1.22.7.

2. वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्।

ऋग्० 4.54.1.

3. राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि।

अथ० 3.4.2.

4. अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि।

अथ० 3.4.4.

5. दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि। अथ० 20.5.4.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) वृद्धि करने वाले (राधसः) अद्भुत धन के (वसोः) विभाजन-कर्ता (विभक्तारं) सम्राट् (सविता) को हम पुकारते हैं। (2) जो सम्राट् (सविता) हम मनुष्यों के लिए रत्नों का विभाजन करता है। (विभजति) जिससे कि वह हम सबको श्रेष्ठ धन दे सके। (3) हे सम्राट् तुम राष्ट्र के सबसे ऊँचे स्थान सिंहासन पर

(ककुदि) बैठो और वहाँ से उग्र शक्ति वाले तुम हमारे लिए धनों का विभाजन करो (विभज) । (4) हे सम्राट् तुम हमें धन देने के लिए अपना मन बनाओ और तब हमारे लिए उग्र शक्ति वाले तुम धनों का विभाजन करो (विभज) । (5) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम्हारा अंकुश लम्बा है जिससे तुम धन प्रदान करते हो ।

इन मन्त्रों में स्पष्ट ही राज्य का कर्तव्य बताया गया है कि वह प्रजाओं के लिए धन का संविभाजन करता रहे । उद्धृत अन्तिम मन्त्र में तो यह भी कह दिया गया है कि आवश्यकता होने पर राज्य अपने लम्बे अंकुश का प्रयोग करके भी प्रजाओं को धन देने का कार्य करे । अंकुश यहाँ राजदण्ड के लिए प्रयुक्त हुआ है । प्रजाओं को धन दान के कार्य में राज्य राजदण्ड का प्रयोग भी कर सकता है ।

## धन-संविभाजन के दो प्रकार

वेद के इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों में राजा को जो धनों का 'विभक्ता'— धनों का विभाग करने वाला—कहा गया है उसके दो अभिप्राय हो सकते हैं । एक तो यह कि जब किन्हीं दो प्रजाजनों में किसी धन-सम्पत्ति को लेकर विवाद खड़ा हो जाये और एक कहे कि यह मेरी है और दूसरा कहे कि यह मेरी है तब राज्य विचार करके निर्णय कर देगा कि वह धन-सम्पत्ति वास्तव में किसकी है और वह वस्तु जिसे मिलनी चाहिए उसे दिलवायेगा । यदि उस धन-सम्पत्ति पर एक का अधिकार होगा तो वह एक को दिला दी जायेगी और यदि दोनों का अधिकार उस पर होगा तो वह दोनों में बाँट दी जायेगी । राज्य के इस निर्णय को मनवाने के लिए राजदण्ड का भी प्रयोग किया जा सकेगा ।

दूसरा अभिप्राय राजा को धनों का विभाग करने वाला कहने का यह होगा कि राज्य समय-समय पर देखता रहेगा कि राज्य के निवासियों के लिए किस-किस वस्तु की कितनी-कितनी आवश्यकता है और इसलिए राष्ट्र में किस वस्तु की कितनी उत्पत्ति होनी चाहिए तथा किस वस्तु के उत्पादन में राष्ट्र की कितनी जनसंख्या लग जानी चाहिए । राज्य यह भी देखेगा कि कौन सी वस्तु राष्ट्र के किस प्रदेश में अधिक अच्छी तरह उत्पन्न हो सकती है । उसी के अनुसार राज्य उत्पादन की व्यवस्था करेगा । और फिर यह भी राज्य देखेगा कि इस प्रकार उत्पन्न वस्तुएँ उचित रीति से देश के सब निवासियों के पास आवश्यकतानुसार पहुँच रही हैं या नहीं । सब तक आवश्यकता पूर्ति के लिए सब वस्तुएँ पहुँच रही हैं या नहीं यह राज्य देखेगा और सब तक आवश्यकता की सब चीजें पहुँचने की व्यवस्था करने में राज्य को यदि दण्डप्रयोग भी करना पड़ेगा तो वह भी किया जायेगा ।

इन दोनों दृष्टियों से प्रजाओं में धन का संविभाजन करना राज्य का

कर्तव्य है ।

### 11. जो अपने कर्तव्य का पालन करेंगे राज्य उन्हीं की सहायता करेगा

राज्य इस प्रकार धन-सम्पत्ति प्राप्त होने की व्यवस्था करके प्रजा के उन्हीं लोगों की रक्षा करेगा जो राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर रहे होंगे, दूसरों की नहीं । इस सम्बन्ध में वेद में स्थान-स्थान पर निर्देश मिलते हैं । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे । ऋग्० 1.81.6.
2. पिन्वते जनाय रातहविषे महीमिषम् । ऋग्० 2.34.8.
3. इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत उपेद्ददाति न स्वं मुषायति ।
   भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥
   अथ० 4.21.2; ऋग्० 6.28.2.
4. ददाति दाशुषे वसूनि । ऋग्० 7.27.3.
5. इन्द्र शुद्धो रत्नानि दाशुषे । ऋग्० 8.95.9.
6. अहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् । ऋग्० 10.48.1.
7. यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः ।
   अथ० 7.50.6.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) जो स्वामी इन्द्र (सम्राट्) अपनी सम्पत्ति का दान करने वाले के लिए (दाशुषे) मनुष्योपयोगी भोजन प्रदान करता है । (2) सैनिक लोग (मरुतः) अपनी हवि का दान करने वाले (रातहविषे) जन के लिए महान् अन्न देते हैं (पिन्वते) । (3) इन्द्र (सम्राट्) यजनशील (यज्वने) और दान करने वाले के लिए (पृणते) देता है और सदा ही देता है, उसके धन का कभी अपहरण नहीं करता, इसके धन को अधिक-अधिक (भूयः-भूयः) बढ़ाता हुआ राज्याधिकारी देवों को चाहने वाले (देवयुम्) अर्थात् उनको कर आदि देकर उनकी सहायता की इच्छा रखने वाले इस प्रजाजन को शत्रुओं से अभेद्य (अभिन्ने) सुरक्षित स्थान में (खिल्ये) रखता है । (4) इन्द्र (सम्राट्) दान करने वाले के लिए (दाशुषे) धन देता है । (5) शुद्ध रीति से शासन करने वाला (शुद्धः) इन्द्र (सम्राट्) दान करने वाले के लिए (दाशुषे) रत्नों को देता है । (6) मैं इन्द्र (सम्राट्) दान करने वाले के लिए (दाशुषे) भोजन को विभक्त कर देता हूँ (विभजामि) । (7) जो राज्याधिकारी देवों को चाहने वाला (देवकामः) अर्थात् उन्हें कर आदि के रूप में सहायता देते रहने की इच्छा वाला अपने धन को (धनं) रोक नहीं रखता है (न रुणद्धि) उसी को इन्द्र (सम्राट्) धन से और अन्नों से

(स्वधाभिः) युक्त करता है।

इन मन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है कि जो प्रजाजन अपने धन का दान नहीं करता है सम्राट् उसे अपनी रक्षा द्वारा धन नहीं देता। ऐसे व्यक्ति की राज्य सहायता नहीं करता। प्रजाजनों द्वारा राज्य से रक्षा और सहायता प्राप्त करने के लिए दान करते रहने के दो अभिप्राय हैं। एक तो यह है कि वे प्रजाओं के कल्याण के लिए विभिन्न रीतियों से अपने धन को प्रदान करते रहें। दूसरे यह कि कर आदि के रूप में राज्य के लिए जो देय भाग है उसे भी उचित रीति से देते रहें। मन्त्रों में प्रयुक्त हुए 'दूवयु' और 'देवकाम' पदों से यह दूसरे प्रकार का कर आदि के रूप में राज्य को देय रूप में दिया जाने वाला, दान भी स्पष्ट रूप में ध्वनित होता है।

जो व्यक्ति अपने धन को रोककर अपने पास ही नहीं रख लेता प्रत्युत् उसे उपर्युक्त रीति से राष्ट्र के कल्याण में निरन्तर देता रहता है, उसी की रक्षा और सहायता राज्य करता है। उसी को राज्य के प्रबन्ध द्वारा धन प्राप्ति की व्यवस्था का लाभ मिलता है। उसके धन का राज्य कभी अपहरण नहीं करता। धन बढ़ाने के लिए उसको तो राज्य की ओर से सहायता ही मिलती है। उस पर राज्य किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होने देता, वह राज्य की रक्षा में अपने स्थान में सुरक्षित रहता है। इस प्रकार जो राष्ट्र की सहायता करने के अपने कर्तव्य का पालन करता है उसी की राष्ट्र भी सहायता करता है। जो राष्ट्र को देता है उसी को राष्ट्र भी बदले में देता है।

## 12. उपसंहार

यहाँ हमने वेद के आधार पर समाज संघटन और उसकी आर्थिक व्यवस्था पर विचार किया है। वेद में वर्णित इस समाज संघटन का दूसरा नाम वर्णाश्रम-व्यवस्था है। इस व्यवस्था में जन्म पर आश्रित वर्ण-विभाग का कोई स्थान नहीं है। आर्य जाति में वर्तमान समय में प्रचलित जन्म पर आश्रित जात-पाँत का तो वैदिक वर्ण-व्यवस्था में बिल्कुल ही कोई स्थान नहीं है। वैदिक वर्ण-व्यवस्था शुद्ध रूप से गुण, कर्म और स्वभाव पर आश्रित है। जो व्यक्ति अपने लिए जिस वर्ण को पसन्द करके चुनता है उसके योग्य गुण उसमें होने चाहिए, उसे कर्म भी उसी के अनुसार करने चाहिए और इन गुण-कर्मों के अनुसार उसका स्वभाव हो जाना चाहिए—उसकी प्रकृति ही वैसी बन जानी चाहिए। जन्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी भी घर में पैदा हुआ बालक अपनी रुचि के अनुसार किसी वर्ण को ग्रहण कर सकता है। यहाँ जन्म का प्रश्न नहीं, योग्यता का प्रश्न है। वैदिक वर्णव्यवस्था में वर्तमान काल की जात-पाँत में पाई जाने वाली घृणा का भी कोई

स्थान नहीं है। वेद के अनुसार सब वर्ण एक ही समाज शरीर के अंग हैं। सब एक दूसरे का सुख-दुःख अनुभव करते हैं और सब एक-दूसरे की सहायता करते हैं। वैदिक वर्ण-विभाग तो एक प्रकार का श्रम-विभाग है।

यह वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज के आर्थिक संकटों को भी किस प्रकार दूर करती है और उन्हें दूर करने का यह कितना श्रेष्ठ उपाय है यह ऊपर के पृष्ठों में अच्छी तरह दिखाने का प्रयत्न किया गया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति को स्वीकार किया गया है। और मनुष्य की संग्रह और ममत्व की स्वाभाविक वृत्तियों से लाभ उठाया गया है। परन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को बहुत मर्यादित कर दिया गया है। उसे मर्यादित करने के लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था का तप और त्याग-प्रधान सारा वायुमण्डल और राजदण्ड दोनों काम करेंगे। मनुष्य की संग्रह, ममत्व और अहंकार की स्वाभाविक वृत्तियों को वर्णाश्रम व्यवस्था में समाज की सेवा करने का साधन बना लिया गया है। आजकल की प्रचलित भाषा में कहना हो तो वर्तमान में प्रचलित समाज की पूंजीवाद (कैपटलिज्म) नामक आर्थिक व्यवस्था के गुण तो वर्णाश्रम पद्धति में पाये जाते हैं, उसके दोष नहीं पाये जाते। इसी प्रकार समाजवाद (सोशलिज्म) नामक व्यवस्था के भी गुण वर्णाश्रम-व्यवस्था में पाये जाते हैं उसके दोष नहीं। वर्णाश्रम व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार तो है पर वह निर्बाध नहीं है। सम्पत्ति का दुरुपयोग करने वाले अयोग्य व्यक्ति की सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है। वैदिक वर्णव्यवस्था में 'वर्ण' की भाँति ही सम्पत्ति का अधिकार भी जन्म पर नहीं योग्यता पर आश्रित है। वर्णाश्रम व्यवस्था में केवल किसी का पुत्र होने मात्र से कोई किसी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। उसे उसका अधिकारी होने की योग्यता भी प्रमाणित करनी होगी। वर्णव्यवस्था में सम्पत्ति विशेष अवस्था में छीनी भी जा सकती है और उस पर राज्य की ओर से कई प्रकार के प्रतिबन्ध भी लगाये जा सकते हैं।

## अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का समन्वय

दार्शनिक दृष्टि से वर्णाश्रम-व्यवस्था में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों का समन्वय है। वर्णाश्रम-व्यवस्था जगत् के रचयिता परमात्मा और जीवात्माओं की सत्ता में विश्वास रखती है। हम सब अमर जीवों का परमात्मा अमर पिता है। हम सब आपस में भाई-भाई हैं। एक पिता के पुत्र हैं। इसलिए हमें आपस में सबको एक-दूसरे के दुःखों को दूर करने और सुखों को बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। वर्णाश्रम व्यवस्था का अध्यात्मवाद हमें सहृदय और दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिए आगे बढ़ने वाला बनाता है। दूसरों का दुःख दूर करना वह

हमारा कर्तव्य निर्धारित करता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में प्रकृति और उससे बने भौतिक जगत् और उसकी सब परिस्थितियों को स्वीकार किया जाता है। यह दिखाई देने वाला जगत् मिथ्या नहीं है। यह जगत् हमारे विचारों अथवा परमात्मा के विचारों का परिणाम मात्र एक स्वप्न-सी मिथ्या वस्तु नहीं है। यह जगत् सचमुच में अपनी सत्ता रखता है। यह है और अवश्य है। और इसीलिए इसकी वे परिस्थितियाँ भी अपनी सत्ता रखती हैं जो हमें समय पर दुःख देती हुई प्रतीत होती हैं। हमें उन परिस्थितियों से युद्ध करके उन्हें सुधारना होगा। उनकी ओर से आँख मींच लेने से हमारा काम नहीं चलेगा। मनुष्य के जीवन को दुःखदाई बनाने वाली जगत् की परिस्थितियों से किस प्रकार युद्ध करके सुखदायी परिस्थितियाँ पैदा की जा सकी हैं यह ऊपर संक्षेप से दिखाया गया है। इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन की नित्य सत्ता के दार्शनिक सिद्धान्त पर वर्णाश्रम-व्यवस्था खड़ी है। वर्णाश्रम-व्यवस्था न केवल अध्यात्मवादी है और न केवल भौतिकवादी।

# राज्य और गो-पालन

## वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का स्थान

वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। गौ उसकी एक बहुत प्यारी सम्पत्ति है । उसे जब कभी अपने भगवान् से ऐश्वर्य की प्रार्थना करनी होती है तो उस ऐश्वर्य में और-और वस्तुओं के साथ प्रायः गौ भी अवश्य सम्मिलित रहती है। पचासों स्थानों पर वेद में प्रभु-भक्त या वाचक द्वारा अपने भगवान् से गृहस्थ के अभीष्ट ऐश्वर्य में गौओं की अभ्यर्थना की गई है । वह एक नहीं, अनेक गौवें अपने पास रखना चाहता है ।

इसीलिए जब गौ-प्रिय वैदिक गृहस्थ अथ० 3.12 में अपने रहने के लिए एक सुन्दर शाला (घर) का निर्माण करता है तो वह उसकी और-और ऐश्वर्य से भरने के साध 'गोमती···घृतवती पयस्वती' (अथ० 3.12.2) और 'घृतमुक्षमाणा' (अथ० 3.12.1) भी बनाता है । उसमें गौवें रखकर घी और दूध से भरना चाहता है, इतना भरना चाहता कि वह हमारे लिए घी सिंचन करने वाला (उक्षमाणा) बन सके । वह अपनी शाला के सम्बन्ध में इच्छा रखता है कि उसमें—

1. आ····वत्सो गमेद्····आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः । अथ० 3.12.3.
2. एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः । अथ० 3.12.7.

अर्थात्—(1) सायंकाल को बाहर से चर कर बछड़े और उछलती हुई गौवें आया करें । (2) दही से लबालब भरे (परिस्रुत) कुम्भ और कलश रहा करें ।

गृहस्थ अपनी पत्नी को प्रतिदिन कहना चाहता है कि—

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ।।

अथ० 3.12.8.

अर्थात्—हे नारि इस कुम्भ को अमृत में भरी हुई घी की धारा से पूरा भर ले और फिर इस अमृत से इन पीने वालों को खूब चिकने, सुन्दर और कान्तिमान् शरीर

वाला बना (सम्-अङ्ग्धि) हमारे द्वारा किये हुए इष्ट और आपूर्त के शुभ कर्म इस घर की रक्षा करते रहें।'

अथर्ववेद के दो सूक्तों के इन उद्धरणों से पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि अपने घी-दूध से उसके शरीर को सींच कर चिकना, सुन्दर, बलिष्ठ और कान्तिमान् बनाने वाली गौ और तज्जन्य पदार्थों से वैदिक गृहस्थ को कितना प्रेम है और वह उन्हें कितनी भारी संख्या में अपने पास रखना चाहता है। यहाँ और भी कितने ही उद्धरण इस भाव को स्पष्ट करने के लिए दिये जा सकते थे। हम विस्तार भय से ऐसा नहीं करना चाहते और इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। वेद का प्रत्येक पारायण करने वाला जानता है कि वैदिक आर्य गृहस्थ के लिए गौ-धन की कितनी कीमत है और वह इस धन को पाने के लिए कितना उत्सुक रहता है और भगवान् से इसके लिए कितनी प्रार्थनाएँ करता है। साधारण दृष्टि से भी वेद की एक बार आवृत्ति कर लेने से यह बात विदित हो सकती है।

## राष्ट्रीय प्रार्थना में गौ का स्थान

न केवल वेद का प्रत्येक गृहस्थ ही अपने लिए वैयक्तिक रूप में भगवान् से गौ-धन की याचना करता है प्रत्युत कई स्थलों पर सारे राष्ट्र के लोगों के लिए भी गौ-धन की याचना की गई है। उदाहरण के लिए यजुर्वेद का निम्न मन्त्र देखिए—

> आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।
>
> यजु० 22.22.

यजुर्वेद के जिस अध्याय का यह मन्त्र है उसका शतपथ में अश्वमेध में विनियोग किया गया है। अध्वर्यु इस मन्त्र द्वारा अश्वमेध करने वाले सम्राट् के राष्ट्र में अभ्युदय की प्रार्थना भगवान् से कर रहा है। वह कहता है—हे भगवान् (ब्राह्मन्)! इसके राष्ट्र में ब्रह्मतेज वाले ब्रह्मण उत्पन्न हों, शस्त्र चलाने में निपुण, दूर का निशाना बींधने वाले, महारथी, शूर क्षत्रिय उत्पन्न हों, दूध देने वाली गौवें उत्पन्न हों, भार उठाने में समर्थ बैल हों, शीघ्रगामी घोड़े हों, नगरों की रक्षा करने वाली (पुरधिः) स्त्रियाँ हों, इस यजमान (सम्राट्) के पुत्र (वीरः) विजयी, रथारोही, सभाओं में जाने योग्य और युवा हो, जब-जब हम चाहें तब-तब बादल बरसा करें, अनाज (ओषधयः) फल वाले होकर पका करें, हमें अलब्ध ऐश्वर्य की प्राप्ति और

प्राप्त की रक्षा (योगक्षेमः) प्राप्त हो। मन्त्र में उत्पन्न होने के लिए 'आ जायताम्' क्रिया का प्रयोग हुआ है। इसमें 'आ' उपसर्ग की व्यंजना देखने योग्य है। 'आ' का अर्थ होता है 'समन्तात्'—'चारों ओर'। इसलिए 'आ जायतां' क्रिया का भाव यह हुआ कि मन्त्र में वर्णित ब्राह्मणादि एक दो नहीं, प्रत्युत राष्ट्र में चारों ओर—कोने-कोने में—उनका प्रादुर्भाव हो। इस प्रकार राष्ट्र के इस ऐश्वर्य की प्रार्थना में 'दूध देने वाली गौओं' को भी साथ रखा गया है।

## गो-पालन और उस पर राज्य का नियन्त्रण

जिन गौओं का राष्ट्र के व्यक्तियों को वीर और बलिष्ठ बनाने में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसलिए जो राष्ट्र के ऐश्वर्य का एक अत्यन्त आवश्यक अंग हैं, उन गौओं का राष्ट्र के घरों में उचित भरण-पोषण हो रहा है कि नहीं इसका सदा निरीक्षण रखना वेद में राज्य का भारी कर्तव्य बताया गया है। राजा के इस कर्तव्य का अनेक स्थानों पर निर्देश मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का 6.28 निम्न सूक्त देखिए। इसमें गो-पालन के सम्बन्ध में कई सुन्दर शिक्षाओं का वर्णन करते हुए इस सम्बन्ध में राजधर्म का भी इशारे से निर्देश कर दिया है। सूक्त इस प्रकार है—

1. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
   प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥
   ऋग्॰ 6.28.1.
2. इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति।
   भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्॥
   ऋग्॰ 6.28.2.
3. न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
   देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह॥
   ऋग्॰ 6.28.3.
4. न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
   उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः॥
   ऋग्॰ 6.28.4.
5. गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
   इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥
   ऋग्॰ 6.28 5.

6. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
   भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥
   ऋग्० 6.28.6.
7. प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
   मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥
   ऋग्० 6.28.7.
8. उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम् ।
   उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ॥ ऋग्० 6.28.8.

सूक्त के मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) (गावः) गौवें (आ अग्मन्) आवें (गोष्ठे) हमारे गोष्ठ अर्थात् गौओं के रहने के स्थान में (सीदन्तु) बैठें अर्थात् रहें (उत) और (भद्रं) हमारे लिए मंगल (अक्रन्) करें (अस्मे) हममें रहती हुई (रणयन्तु) रमण करें अर्थात् आनन्दपूर्वक रहें (इह) यहाँ हमारे घर में ये गौवें (प्रजावतीः) संतानों वाली होकर (पुरुरूपाः) बहुत रूपों वाली अर्थात् अनेक प्रकार की (स्युः) होती रहें और इस प्रकार (इन्द्राय) सम्राट् के लिए (पूर्वीः) बहुत (उषसः) उषाकालों अर्थात् दिनों तक (दुहानाः) दूध देने वाली बनी रहें ।

इस मन्त्र से निम्न उपदेश मिलते हैं—

1. हरेक गृहस्थ के घर में गोष्ठ अर्थात् गौओं के रहने का स्थान भी अवश्य रहना चाहिए । कोई घर गौओं के बिना न रहे । गौ पाल कर सबको अपना भद्र करना चाहिए ।
2. गौ पालने वालों को इस प्रकार उनकी संतानें उत्पन्न करानी चाहिए कि उनसे अनेक प्रकार की उत्तमोत्तम गौवें तैयार हो सकें जिनसे पहले की अपेक्षा अधिक दूध और मक्खन उत्पन्न होता हो और अधिक बलिष्ठ बछड़े और बछड़ियाँ उत्पन्न होती हों, तथा रूपाकृति की सुन्दरता-विविधता भी पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ती जाये । यह सब भाव 'प्रजावतीः पुरुरूपाः' इन दो शब्दों का है ।
3. 'इन्द्र के लिए दूध देने वाली बनी रहें' इस वाक्य से यह भाव प्रतीत होता है कि गौओं से जो भी दूध की आय गृहस्थों को हो उसमें कुछ भाग राज्य का भी रहना चाहिए ।
4. 'हममें रहती हुई रमण करें' इस वाक्य की ध्वनि यह है कि जिस प्रकार घर के मनुष्य मिलकर आनन्द से रहते हैं उसी प्रकार हमारी गौवें भी हममें मिलकर आनन्द से रहें । हम अपनी गौओं को अपने जैसा ही समझें

और अपने जैसी ही उनके आराम की चिन्ता करें।

(2) (इन्द्रः) सम्राट् (यज्वने) राज्य-संघटन के लिए अपना भाग दान करने वाले और इस प्रकार (पृणते) राज्य की आवश्यकताओं की तृप्ति करने वाले के लिए (शिक्षति) अपनी रक्षा देता है। (उपेद्दाति) और समीप पहुँच कर देता है। (स्वं) उसके धन को (न मुषायति) अपहरण नहीं करता या होने देता (अस्य) इसके (रयिं) धन को (भूयः भूयः) बार-बार (वर्धयन् इत) बढ़ाता हुआ (देवयुम्) सम्राट् रूप देव को अर्थात् राज्य के भले को चाहने वाले इसको (अभिन्ने) अभेद्य (खिल्ये) स्थान में (निदधाति) रखता है।

यहाँ प्रसंग गौवों का चल रहा है। इसलिए मन्त्र में प्रयुक्त धन शब्द का अर्थ गौ समझना चाहिए। जो व्यक्ति अपने गो-धन की आय में से राज्य को अपना देयांश देता रहता है राज्य उसकी गौवें की रक्षा करता है और उन पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होने देता, यह मन्त्र का भावार्थ है। प्रथम मन्त्र में 'इन्द्राय दुहानाः' इन शब्दों में जो बात संक्षेप में कही गई थी वही इस मन्त्र में आकर अधिक स्पष्ट हो गई है। और सम्राट् द्वारा गो-धन की आय का कुछ अंश लेने का प्रयोजन भी स्पष्ट हो गया है। राज्य को क्योंकि गौवों की विशेष रक्षा और परवाह करनी है इसलिए प्रत्येक गृहस्थ से एक विशेष गो-कर भी राज्य ले सकेगा।

'भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्' इस वाक्य का भाव यह है कि जिनसे लोगों के गो-धन की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रह सके ऐसे उपाय सर्वसाधारण को बताते रहना राज्य का एक कर्तव्य होगा। गो-पालन और गो-संवर्धन के विशेषज्ञ रखकर राज्य को यह कार्य कराते रहना होगा। तभी उसके लिए लोगों से गो-कर लेना संगत हो सकेगा।

(3) (ताः) वे गौवें (न नशन्ति) नष्ट नहीं होतीं (तस्करः) चोर उन पर (न दभाति) प्रहार नहीं करता (अमित्रः) शत्रु का (व्यथिः) पीड़ा देने वाला शस्त्रादि (आसां) इनका (न आदधर्षति) धर्षण नहीं करता (याभिः) जिनसे (देवान्) देवों का (यजते) यजन करता है—अर्थात् जिनकी आयु से राज्य के संचालक देवों के राज्य-संघटन के लिए कुछ अंश दिया जाता है अथवा जिनके घृतादि से अग्निहोत्रादि यज्ञ किये जाते है (च) और (ददाति) अतिथि आदि को घृतदुग्धादि का दान करता है (ताभिः) उनके (सह) साथ (गोपतिः) गो-पालक गृहस्थ (सचते) देर तक संयुक्त रहता है।

क्योंकि सम्राट् द्वारा रक्षा प्राप्त होती है इसलिए—

1. गौवें नष्ट नहीं होने पातीं। राज्य की ओर से गौवों में रोग न होने देने के और रोग हो जाने की अवस्था में उन्हें फैलने न देने के उपाय होते

रहते हैं।

2. किसी की गौ को चोर नहीं चुरा सकते।
3. शत्रु लोग उनको किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दे सकते।
4. और इस प्रकार गो-पालक गृहस्थ के पास उसकी गौवें सदा बनी रहती हैं।
5. पांचवीं शिक्षा इस मन्त्र से यह मिलती है कि गोपति को, गृहस्थ को, अपनी गौवों से सदा देवों का यजन और अतिथि आदि का सत्कार करते रहना चाहिए। देवों के यजन का भाव हमने मन्त्र के अर्थ में ही संक्षेप से समझा दिया है।

(4) (ताः) उन गौवों को (रेणुककाटः) धूल उड़ाकर आता हुआ (अर्वा) शत्रु का घोड़ा (न अश्नुते) प्राप्त नहीं हो सकता (ताः) वे गौवें (संस्कृतत्रम्) किसी प्रकार की हिंसा या सूनागृह की (अभि) ओर (न उपयन्ति) नहीं जातीं (तस्य) उस (यज्वनः) यज्वा (मर्तस्य) पुरुष की (ताः) वे गौवें (अभयं) अभय होकर (उरुगायं) फिरने के विस्तृत देशों में (अनुविचरन्ति) विचरण करती हैं। मन्त्र में अर्वा का अर्थ हिंसक भी हो सकता है क्योंकि 'ऋ' धातु के गति और हिंसा दोनों अर्थ होते हैं। तब अर्थ यह होगा कि धूल उड़ाकर आता हुआ कोई व्याघ्रादि हिंसक पशु उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता।

क्योंकि राज्य की ओर से रक्षा का पूरा प्रवन्ध रहता है इसलिए—

1. शत्रुओं के घुड़सवार आकर उन्हें भगाकर नहीं ले जा सकते।
2. अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशु जंगलों में उन पर आक्रमण नहीं कर सकते।
3. किसी प्रकार की दूसरी हिंसा भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् कोई पुरुष उन्हें मार नहीं सकता और वे सूनागृह (Slaughter House) आदि में वध होने के लिए भी नहीं भेजी जा सकतीं।
4. वे निर्भय होकर चरने के लिए जंगलों में दूर-दूर तक विचरण करती हैं। मन्त्र में आये यज्वा शब्द का भाव हम ऊपर द्वितीय मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट कर आये हैं।

(5) (इन्द्रः) सम्राट् (मे) मुझे (गावः) गौवें (अच्छान्) देवे (गावः) गौवें (भगः) धन है (गावः) गौवें (प्रथमस्य) उत्कृष्ट (सोमस्य) सोम का (भक्षः) भक्षण हैं (जनासः) हे मनुष्यो (इमाः) ये (याः) जो (गावः) गौवें हैं (सा) वे (इन्द्रः) परमैश्वर्य हैं (हृदा) हृदय और (मनसा) मन से (इन्द्र) इस परमैश्वर्य को (चित्) ही (इच्छामि) चाहता हूँ।

'मुझे इन्द्र गौवें देवे' इस वाक्य से यह प्रतीत होता है कि गौवों के क्रय-विक्रय पर राज्य का पूरा नियन्त्रण रहना चाहिए। कोई व्यक्ति जो गाय खरीदे उसे पहले

राज्य के विशिष्ट कर्मचारी देख लें कि उसमें किसी प्रकार का रोग या कोई भयंकर त्रुटि तो नहीं है। जब वे उसके दूध को प्रयोग में लाने योग्य कह दें तभी वह गृहस्थ के घर में जा सकती है। क्योंकि कोई गौ राज्य की अनुमति के बिना क्रय नहीं की जा सकती। इसलिए आलंकारिक ढंग में यह कहा जा सकता है कि सम्राट् हमें गौवें देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक राज्य में नागरिकों के स्वास्थ्य की चिन्ता का कितना भार राज्य पर डाला गया है।

गौवों को 'उत्कृष्ट सोम का भक्षण' इसलिए कहा गया है कि उनसे ही दूध, दही और घी जैसे उत्कृष्ट सोम पदार्थ प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर दूध-दही आदि को भी सोम कहा गया है। उदाहरणार्थ 'सोमो वै दधि' (कौ० 8.9) 'सोमः पयः' (श० 12.7.3.13), 'रसः सोमः' (श० 7.3.1.3) ब्राह्मण के इन वाक्यों में दूध-दही और घृतादि रसों को विस्पष्ट रूप में सोम शब्द से अभिहित किया गया है। यों प्रसिद्ध सोम ओषधि को भी गौ के दूध-घी के साथ मिलाकर भक्षण किया जाता है। सोम में गौ के दूध-घी को मिला देने से उसमें और भी अधिक उत्कृष्टता और शक्ति आ जाती है।

'गौवें इन्द्र हैं' इस वाक्य में हमने 'इन्द्र' का अर्थ परमैश्वर्य किया है। पहले वाक्य में इन्द्र (सम्राट्) से गौवें देने की प्रार्थना है। इस वाक्य में गौवों को ही इन्द्र बना दिया है। इसलिए इस वाक्य में इन्द्र का अर्थ सम्राट् से भिन्न कोई दूसरा होना चाहिए। गौवें तो स्वयं सम्राट् हो नहीं सकतीं। यदि इन्द्र देवता का अर्थ परमात्मा करें तो गौवें परमात्मा भी नहीं हो सकतीं। और इसी प्रकार इन्द्र का प्रसिद्ध पौराणिक अर्थ लेने पर वे वैसा इन्द्र भी नहीं हो सकतीं। इसलिए हमें यहाँ अगत्या इन्द्र के धात्वर्थ की सहायता से उसका परमैश्वर्य ऐसा अर्थ करना पड़ता है। इन्द्र को ब्राह्मण में एक स्थान पर 'रुक्म एवेन्द्रः' (श० 10.4.1.6) ऐसा कहकर सुवर्ण के अर्थ में ग्रहण भी किया गया है। सुवर्ण क्योंकि परमैश्वर्य की वस्तु है इसलिए उसे इन्द्र कहा है। वेद की दृष्टि में गौवें भी एक प्रकार का धन हैं और उत्कृष्ट कोटि का धन हैं इसलिए गौणी वृत्ति से उन्हें इस मन्त्र में इन्द्र कह दिया गया है जिससे मन्त्र में काव्य का एक विशेष चमत्कार आ गया है। जो स्वयं इन्द्र (परमैश्वर्य) हैं उन्हें इन्द्र (परमैश्वर्यवान् सम्राट्) से माँगा जा रहा है।

इस मन्त्र में गौओं को 'भग' और 'इन्द्र' कहा है। इन दोनों शब्दों का जो वास्तविक और बुद्धि-संगत अभिप्राय है वह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। 'भग' और 'इन्द्र' वेद के प्रसिद्ध देवताओं में से हैं। यहाँ गौओं के लिए भी ये नाम प्रयुक्त हो गये हैं। इसी से, वेद का वास्तविक आशय न समझने के कारण, प्रतीत होता है गौ में देवत्व की वह कल्पना कर ली गई है जो प्रचलित हिन्दू धर्म में पाई जाती है।

(6) (गावः) हे गौवो (यूयं) तुम (कृश चित्) पतले-दुबले पुरुष को भी (मेदयथ) स्निग्धता प्रदान करके मोटा कर देती हो (अश्रीरं चित्) सुन्दरतारहित को भी (सुप्रतीकम्) सुन्दर अंगों वाला (कृणुथ) कर देती हो (भद्रवाचः) हे भद्रवाणी वाली गौवो (गृहं) हमारे घर की (भद्रं) कल्याण युक्त (कृणुथ) कर दो (सभासु) सभाओं में (वः) तुम्हारे (बृहत्) बहुत (वयः) अन्न का (उच्यते) बखान किया जाता है।

इस मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है—

1. गौ के दुग्ध और घृत के सेवन से पतले-दुबले शरीर मोटे-ताजे बन जाते हैं।
2. जो सुन्दर नहीं हैं उनके शरीर में गौ-दुग्ध का सेवन करने से स्वास्थ्य-जनित सुन्दरता आ जाती है।
3. जिस घर में गौवें रहती हैं और उनके दुग्ध का सेवन होता है वह घर कल्याण और मंगल से भर जाता है।
4. गौओं में बड़ा अन्न है। इनके दुग्ध, दही, मक्खन आदि में बड़ी उत्कृष्ट श्रेणी की अन्न शक्ति है। इनकी इस अन्न-शक्ति का सभाओं में बखान हो सकता है। उनमें विद्वानों के व्याख्यान हो सकते हैं जिनमें घण्टों तक गौ के दुग्धादि के गुणों का वर्णन किया जा सकता है। इनके दुग्धादि के गुणों पर पुस्तकें लिखी जा सकती हैं।

(7) (सूयवस) उत्तम घास को (रिशन्तीः) खाती हुई (सप्रपाणे) उत्तम पानी पीने के स्थानों में (शुद्धाः) निर्मल (अपः) जल (पिबन्तीः) पीती हुई हे गौओ तुम (प्रजावतीः) पुत्र-पौत्रों से युक्त होकर रहो (स्तेनः) चोर और (अघशंसः) पाप करने वाला पुरुष (वः) तुम पर (मा) मत (ईशत) प्रभुता कर सके (रुद्रस्य) परमात्मा का (हेतिः) प्रहरण (नः) तुम्हें (परिवृज्याः) छोड़े रखे अर्थात् तुम शीघ्र न मरो प्रत्युत दीर्घ आयु वाली होओ।

इस मन्त्र से निम्न बातें ज्ञात होती हैं—

1. गौओं को जो घास आदि खाने को दिया जाय वह बहुत उत्तम हो। सड़ा-गला, मैला, पुराना और बोदा घास उन्हें खाने को न दिया जाये।
2. उनके पीने का पानी भी अति निर्मल होना चाहिए। गदला और किसी तरह के मैलेपन और अपवित्रता से युक्त पानी उन्हें पीने को न दिया जाये।
3. ऐसा करने से उनकी सन्तानें उत्तम होंगी। दुर्बल और क्षीण बछड़े-बछड़ी उत्पन्न नहीं होंगे।

4. ऐसा करने से वे देर तक जी सकेंगी। परमात्मा का मृत्यु-रूप शस्त्र उन पर जल्दी नहीं गिरेगा।
5. हमें अपनी गौओं की चोर-डाकुओं से रक्षा करनी चाहिए। ऐसा उत्तम प्रबन्ध रखना चाहिए कि हमारे इस उत्कृष्ट धन को वे पापी लोग हमसे अलग न कर सकें। इसका एक उपाय ऊपर द्वितीय और तृतीय मन्त्र में बताया गया है अर्थात् सम्राट् को इसका प्रबन्ध करना चाहिए। प्रजाजनों को इसके लिए राज्य को गो-कर देना चाहिए।

(8) (आसु) इन (गोषु-उप) गौओं में (इद्रं) यह जो (उपपर्चनम्) बैल के समीप जाकर मिलने का गुण या इच्छा है (ऋषभस्य) और बैल के (रेतसि) वीर्य में (उप—) जो गौओं के पास जाकर मिलने का गुण है वह (इन्द्र) हे सम्राट्! (तव) तेरे (वीर्ये) पराक्रम में अर्थात् तेरे पराक्रम की अधीनता में (उपपृच्यताम्) मिले।

इस मन्त्र में यह स्पष्ट उपदेश है कि सन्तानेच्छा के समय गौ और बैल अपनी इच्छा से न मिल सकें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कोई भी गौ किसी भी बैल से मिलाकर सन्तान उत्पन्न कराई जा सके। प्रत्युत यह क्रिया सम्राट् के पराक्रम के अधीन होनी चाहिए। राज्य की शक्ति का इस पर पूरा नियन्त्रण रहना चाहिए। वे ही सांड सन्तान उत्पन्न कर सकें जिन्हें राज्य के इस विभाग के विशेषज्ञ स्वीकृत कर चुके हों। और ऐसे सांडों से मिलाने से पहले प्रत्येक गोपति गृहस्थ को अपनी प्रत्येक गौ की राज्य के इन विशेषज्ञों से परीक्षा करानी होगी। जो गौ इन द्वारा सन्तान उत्पन्न कराने के योग्य समझी जायेगी वही उन परीक्षित सांडों से मिलने दी जायेगी। गौओं पर राष्ट्र के स्वास्थ्य और बल-वीर्य की निर्भरता है, इसलिए बीमार और दुर्बल गाय और सांड मिलकर दुर्बल बच्चे और शक्तिहीन दुग्ध पैदा न कर सकें इसका राज्य को पूरा नियन्त्रण करना होगा। इस मन्त्र में ही भाव को वेद के अन्य स्थलों में दूसरे शब्दों में भी स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के लिए अथ० 13.1.19 में राजा से प्रार्थना की गयी है—'वाचस्पते....गौष्ठे नो गा जनय'—'हे वाचस्पति राजन्! हमारे गोष्ठ में गौवें उत्पन्न कराइये।' राजा द्वारा हमारे गोष्ठ में उत्पन्न करने का यही भाव है कि हमारी गौओं की सन्तानोत्पत्ति पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए। उसके इस विषय के विशेषज्ञ कर्मचारियों की अनुमति प्राप्त किये बिना किसी गृहपति की गौवें सन्तान उत्पन्न न कर सकें। अथ० 13.1 के प्रारम्भिक मन्त्रों में राजा के राज्यासीन होने का वर्णन है। राज्यासीन हो रहे राजा को ही इस मन्त्र में वाचस्पति शब्द से कहा है क्योंकि वह राष्ट्र की वाणी और तदुपलक्षित ज्ञान का रक्षक होता है अथवा स्वयं उत्कृष्ट विद्वान् और व्याख्याता

होता है।

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड का 21 वाँ सूक्त भी हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ वही है जो ऋग० 6.28 है। अथर्ववेद के सूक्त में ऋग्वेद के सूक्त का केवल 8वाँ मन्त्र नहीं है। वेद के इन मन्त्रों में गृहस्थ के लिए गो-पालन का कितना महत्त्व, उसकी कितनी उपयोगिता बताई गई है और इसीलिए उस पर राज्य का कितना नियन्त्रण रखा गया है। इसी प्रसंग में ऋग्० 10.169 सूक्त भी देखने योग्य है—

1. मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
   पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ॥
   ऋग्० 10.169.1.
2. याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
   या अंङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ॥
   ऋग्० 10.169.2.
3. या देवेषु तन्व१मैरयन्त यासां सोमो विश्वारूपाणी वेद।
   ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिंद्र गोष्ठे रिरीहि॥
   ऋग्० 10.169.3.
4. प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
   शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम॥
   ऋग्० 10.169.4.

मन्त्रों का क्रमशः अर्थ इस प्रकार है—

(1) (मयोभुः) सुख देने वाला (वातः) वायु (उस्राः) गौओं की (अभिवातु) ओर चले, ये गौवें (ऊर्जस्वतीः) बल वाली या रसीली (ओषधीः) ओषधियों को (आरिशन्ताम्) खायें (पीवस्वतीः) मोटा करने वाले और (जीवधन्याः) जीवन देने वाले जलों का (पिबन्तु) पान करें (रुद्र) हे रुद्र ! (पद्वते) पैरों वाले (अवसाय) अन्न अर्थात् गौओं के लिए (मृड) सुख कीजिए।

इस मन्त्र से निम्न निर्देश मिलते हैं—

1. गौओं के रहने के स्थान ऐसे होने चाहिए जहाँ उन्हें सुख देने वाला स्वच्छ निर्मल वायु निरन्तर मिलता रहे। इससे यह भी ध्वनित होता है कि ऐसा वायु प्रभूत मात्रा में मिल सके इसके लिए उन्हें दिन में जंगलों और खेतों में चरने के लिए भी भेजना चाहिए।
2. उन्हें जो ओषधि अर्थात् घास खाने को दी जाये वे बल-वर्द्धक और स्वादु रस से भरी होनी चाहिए। ओषधि शब्द की यह भी ध्वनि है कि गौओं के बल और स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए उन्हें उपयुक्त रासायनिक ओषधियाँ

भी खिलाते रहना चाहिए।

3. गौओं के पीने का पानी गन्दा, मैला, सड़ा, पुराना न हो प्रत्युत जीवन देने वाला और उन्हें मोटा बलिष्ठ करने वाला, स्वच्छ, ताजा और पवित्र होना चाहिए।
4. रुद्र वेद में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। रोग-निवारक वैद्य के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है और सेनापति के अर्थ में भी। परमात्मा के वाचक तो सभी देवतावाची पद प्रायः हैं ही। वैद्य अर्थ में रुद्र द्वारा गौवों के सुखी किए जाने का भाव यह होगा कि ऐसे वैद्यों का प्रबन्ध भी रहना चाहिए जो गौओं के रोगों को दूर करके उन्हें सुखी करते रहें। सेनापति अर्थ में भाव यह होगा कि राज्य की सेनाओं का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि जब हम चाहें तभी हमें उनकी रक्षा प्राप्त हो सके जिससे कोई दुष्ट हमारी गौओं को और इसलिए हमको दुखी न कर सके। परमात्मा तो सभी रोगों और सभी दुखों के नाशक हैं इसलिए उस अर्थ में तो प्रार्थना का भाव स्पष्ट ही है। सायण ने यहाँ रुद्र का अर्थ ज्वरादि नाशक देव ही किया है। रुद्र के प्राण, अग्नि आदि भी अर्थ होते हैं। जिनकी संगति भी यहाँ लग सकती है।

(2) (याः) जो (सरूपाः) समान रूप वाली है (विरूपाः) विभिन्न रूप वाली हैं (एकरूपाः) सर्वथा एक समान रूप वाली हैं (इष्ट्या) यज्ञ के द्वारा (अग्निः) सम्राट् (यासां) जिनके (नामानि) नामों अर्थात् भेदों को (वेद) जानता है (याः) जिन्हें (अङ्गिरसः) अंगिरा लोग (तपसा) तप द्वारा (इह) यहाँ (चक्रुः) बनाते हैं (ताभ्यः) उनके लिए (पर्जन्य) हे मेघ (महि) बहुत बड़ा (शर्म) सुख (यच्छ) दीजिए।

मन्त्र-गत वर्णन से निम्न बातें ध्यान में आती हैं—

1. 'सरूहाः, विरूपाः और एकरूपाः' शब्दों की यह ध्वनि है कि हमारे पास अनेक रूपों अर्थात् अनेक प्रकार अथवा श्रेणियों की गौवें रहनी चाहिए। किन्हीं के दूध में मलायी अथवा दूध में पायी जाने वाली कोई और चीज अधिक हो, किन्हीं के बछड़े खेती के लिए बढ़िया बैल बन सकते हों।
2. अग्नि अर्थात् सम्राट् इनके नामों अर्थात् भेदों को जानता है। इसकी व्यंजना यह है कि राज्य के पास ऐसे विशेषज्ञ विद्वान् कर्मचारी रहने चाहिए जो आवश्यकतानुसार गौओं के इन रूपों को बढ़ाते रह सकें।
3. अग्नि 'यज्ञ' के द्वारा इनके भेदों को जानता है यह वाक्य भी सुस्पष्ट है। ज्ञान की सारी बातें यज्ञ द्वारा जानी जाती हैं। यज्ञ अर्थात् सुव्यवस्थित संगतीकरण अर्थात् संघटन के बिना किसी विद्या की उन्नति नहीं हो

सकती। आवश्यकतानुसार गौओं की नस्लों (प्रकारों) को बनाने और बढ़ाने के लिए राज्य यज्ञ करता है अर्थात् उपयुक्त विद्वानों के संघटन (Organisations) बनाता है।

4. 'अंगिरसः' का अर्थ सायण ने यहाँ 'ऋषयः' अर्थात् ऋषि लोग ऐसा किया है। ऋषि उच्च कोटि के तत्त्वदर्शी विद्वानों को कहते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में अंगिरसः का और-और अर्थों के साथ एक अर्थ 'प्राणादिविद्याविदः' 'सर्वविद्यासिद्धान्तविदः' 'प्राप्तविद्यासिद्धान्तरसानाम्' ऐसा भी किया है। उनके अनुसार विद्या-रस में निमग्न रहने वाले विद्वानों को अंगिरसः कहते हैं। अब 'अंगिरा लोग तप के द्वारा गौओं को बनाते हैं' इस कथन का भाव यह हुआ कि विद्या-तत्त्वों के पारदर्शी विद्वान् लोग तप करके अर्थात् अनेक कष्ट उठाकर गौओं के प्रकारों का निर्माण, उनका संवर्धन, पालन और संरक्षण करते हैं। गौ का दूध, मक्खन आदि स्वास्थ्य के लिए इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि कष्ट उठाकर भी उसकी प्रभूत मात्रा में प्राप्ति के उपाय करने चाहिए, यहाँ प्रयुक्त इस 'तपसा' पद की यह ध्वनि भी है। और ज्ञानी लोग गो-पालन के भारी महत्त्व को सदा समझते हैं यह ध्वनि 'अंगिरसः' पद की है।
5. 'पर्जन्य गौओं के लिए बहुत बड़ा सुख देवे' इसका व्यंग्यार्थ यह है कि जहाँ तक हो सके बादल की वर्षा में उत्पन्न हुए जंगल के घास गौओं को अधिक खिलाने चाहिए। इसके लिए उन्हें जंगल में चरने भेजना चाहिए। दिन-रात उन्हें घर में ही नहीं बाँध रखना चाहिए। पानी भी जहाँ तक हो सके शुद्ध वर्षा जल का ही देना चाहिए।

(3) (याः) जो (देवेषु) राष्ट्र के भाँति-भाँति के व्यवहारशील लोगों में (तन्वं) अपने शरीर को (ऐरयन्त) भेजती हैं (यासां) जिनके (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों अर्थात् भेदों को (सोमः) सोम (वेद) जानता है (अस्मभ्यं) हमारे लिए (पयसा) अपने दूध से (पिन्वमानाः) सिंचन करती हुई और (प्रजावतीः) सन्तानों से युक्त (ताः) उन गौओं को (इन्द्र) हे सम्राट् (गोष्ठे) हमारे गौ बाँधने के स्थान में (रिरीहि) प्राप्त करा।

मन्त्र-गत वर्णन से अधोलिखित बातों का निष्कर्ष निकलता है—

1. भाँति-भाँति के व्यवहार करने वाले राष्ट्र के सभी लोगों को गौ का दूध पीना चाहिए। 'गौवें अपने शरीर को देवों में भेजती हैं' इस वाक्य की यही ध्वनि है। यहाँ गौओं के शरीर से उत्पन्न होने के कारण उनके दूध को ही उपचार से उनका शरीर कह दिया है। 'अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः'

इन शब्दों के साहचर्य में 'तन्वं' का यही अभिप्राय लेना होगा। गौ को मार कर उसका माँस खाने या उसके माँस द्वारा यज्ञ करने की कल्पना इस मन्त्र से नहीं लेनी चाहिए। क्योंकि गौ को वेद में अनेक स्थानों पर 'अघ्न्या' अर्थात् न मारने योग्य कहा है और 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' (ऋग्० 8.101.15) आदि वेद के विधि-वाक्यों में गौ को मारने का स्पष्ट निषेध किया गया है। गौ से प्राप्त होने वाली चीजों को भी गौ कहा जाता है ऐसा निरुक्तकार यास्काचार्य का स्पष्ट मत है।

2. 'पिन्वमानाः' (पिवि सेचने) क्रिया का भाव यह है कि हमें गौ का दूध खूब पीना चाहिए। दूध द्वारा हमें अपने आप को सींचना चाहिए। पाव-आध-पाव दूध पीकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।
3. न्यायाधीश के रूप में राजा का जो स्वरूप प्रकट होता है उसे सोम कहते हैं। 'सोम गौओं के सब भेदों को जानता है', इस वाक्य का भाव यह है कि राज्य के न्याय-विभाग से सम्बन्ध रखने वाले कर्मचारियों को गौओं के सम्बन्ध में सब आवश्यक जानकारी रहनी चाहिए। जिससे वे गौओं सम्बन्धी अभियोगों को आसानी से सुलझा सकें।
4. 'इन्द्र गौओं को हमारे गोष्ठ में प्राप्त करा' इस प्रार्थना से यह ध्वनित होता है कि सम्राट् का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे उपाय करे जिनसे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को घर में गौ रखना संभव हो सके। बहुवचन की यह ध्वनि है कि एक ही नहीं, प्रत्येक घर में अनेक गौवें रह सकें ऐसा राज्य को प्रबन्ध करना चाहिए।
5. 'प्रजावतीः' शब्द की यह ध्वनि है कि राज्य को यह भी प्रबन्ध करना चाहिए कि प्रत्येक घर की गौवें उत्कृष्ट सन्तानें उत्पन्न कर सकें।

(4) (विश्वैः) सब (देवैः) विविध व्यवहारशील राज्य के कर्मचारियों और (पितृभिः) सभा और समिति नामक नियामक राज्यसभाओं के सदस्यों के साथ (संविदानः) एक-मति को प्राप्त होता हुआ (प्रजापतिः) प्रजा-पालक राजा (मह्यं) मुझे (एताः) इन गौओं को (रराणः) देता हुआ (शिवाः सतीः) इन्हें कल्याणकारिणी बनाकर (नः) हमारे (गोष्ठं) गोष्ठ में (उप आ-अकः) भेजे (वयं) हम (तासां) उन गौओं की (प्रजया) सन्तान से (संसदेम) युक्त होकर रहें।

मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है—

1. राजा का कर्तव्य है कि प्रत्येक घर में गौवें रह सकें वह इस बात का प्रबन्ध करे। वे गौवें सामान्य न हों। शिवा अर्थात् पूर्ण रूप से मंगलकारिणी हों, गौओं से मिल सकने योग्य मंगल उनसे भली-भाँति मिल

सकते हों ।

2. प्रत्येक गृहस्थ की गौओं से उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकने का प्रबन्ध भी राज्य को करना चाहिए ।
3. राष्ट्र में गो-पालन और गो-संवर्धन के कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक बातें करवाने के लिए आवश्यकता हो तो राज्य कर्मचारियों और राज्य की नियामक सभाओं का सहयोग भी प्राप्त कर लेना चाहिए । अर्थात् इस सम्बन्ध में नियामक सभाओं (Legislatures) से नियम पास करवा के राज्य कर्मचारियों द्वारा उनका पालन करवाना चाहिए । 'देवैः पितृभिः संविदानः प्रजापतिः' इस वाक्य का यही भाव है। अथ० 7.12.1 में सभा और समिति के सदस्यों को 'पितरः' कहा गया है । उसी से हमने यहाँ 'पितृभिः' का अर्थ सभा और समिति के सदस्य किया है । और इस पद के साहचर्य से 'देवैः' का अर्थ हमने राज्य-कर्मचारी किया है । देव शब्द संस्कृत साहित्य में राजा के लिए प्रचुर रूप में प्रयुक्त होता ही है । इसलिए बहुवचनान्त 'देवैः' प्रयोग में यह शब्द राज्य-कर्मचारियों को कहेगा जबकि ये 'देव' प्रजापति अर्थात् राजा से सम्बन्ध रखने वाले हों ।

राष्ट्र के लिए गो-पालन का महत्त्व, उसके उपाय और उसके सम्बन्ध में राजा के कर्तव्यों पर वेद जो प्रकाश डालता है वह इन मन्त्रों में कितना स्पष्ट है ।

# राज्य और कृषि

## राज्य कृषि के प्रसार और विकास में प्रयत्नशील रहे

वेद के निम्न मन्त्रों में से यह निर्देश मिलता है कि राज्य को राष्ट्र में कृषि की उन्नति करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए—

1. रयिं वीरवतीमिषम् (अग्ने आभर)। ऋग्० 1.12.11.
2. समिन्द्र राया समिषा रभेमहि। ऋग्० 1.53.5.
3. या (वसूनि) पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु····असि तस्य राजा। ऋग्० 1.59.3.
4. द्रविणोदा वीरवतीमिषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घमायुः। ऋग्० 1.96.8.
5. एकं चमसं चतुरः कृणोतन। ऋग्० 1.161.2.
6. उर्वराजिते। ऋग्० 2.21.1.
7. अग्ने वि पश्य बृहताभि रायेषां नो नेता भवतादनु द्यून्। ऋग्० 3.23.2.
8. याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः।

   ऋग्० 3.60.2.
9. सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः।

   ऋग्० 4.33.7.
10. सुकृत्यया यत् स्वपस्यया चँ एकं विचक्र चमसं चतुर्धा। ऋग्० 4.35.2.
11. नवा नो अन्न आ भर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः। ऋग्० 5.6.8.
12. भद्रं भद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो। ऋग्० 8.93.28.
13. अग्निं क्षैत्राय साधसे। ऋग्० 8.71.12.
14. त्वामिद्यवयुर्मम कामो····एषते। ऋग्० 8.78.9.
15. तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना ददे।

    दिनस्य वा मघवन् त्संभृतस्य वा पूर्धि यवस्य काशिना॥

    ऋग्० 8.78.10.
16. स न इन्द्रः शिवः सखा····यवमत् उरुधारेव दोहते। ऋग्० 8.93.3.

17. अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ।
ऋग्० 10.42.7.

18. गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् । ऋग्० 10.42.10.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे अग्नि (सम्राट्) तू हमें अन्न (इषम्) दे जिसके खाने से हमारे पुत्र वीर हो जायें। राजा का कर्तव्य है कि वह देखे कि उसके राष्ट्र में ऐसी उत्तम कृषि हो रही है जिसके अन्नों को खाने से राष्ट्र के पुत्र बल-वीर्य-शाली बन सकें। (2) हे इन्द्र (सम्राट्) हम तेरी सहायता से धन और अन्न से युक्त हो जाएँ (सं रभेमहि)। (3) हे अग्नि (सम्राट्) पर्वतों, ओषधियों अर्थात् सब प्रकार के अनाजों, और जलों में जो धन है तू उन सबका राजा है। राजा को चाहिए कि वह पर्वतों और जलों में होने वाले पदार्थों तथा भाँति-भाँति के अनाजों की कृषि की उन्नति कराके उनसे राष्ट्र के धन की वृद्धि करे। (4) 'द्रविण' अर्थात् धन देने वाला यह अग्नि (सम्राट्) ऐसा अन्न देता है जिसे खाकर हमारे पुत्र वीर हो जाएँ। यह हमें (इस अन्न के कारण) लम्बी आयु देता है। राजा राष्ट्र में ऐसे उत्तम अन्न उत्पन्न कराये जिनको खाकर लोग वीर और लम्बी आयु वाले बनें।

## कृषि की उपज कई गुणा करने वाले विशेषज्ञ

(5) हे ऋभुओ तुम एक अन्न (चमसम्) को चार बना देते हो। ऋभुओं का इन्द्र के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। इन्द्र का अर्थ सम्राट् हम देखते आ रहे हैं। ऋभु भाँति-भाँति के क्रिया-कुशल विद्वान् लोगों का नाम है, यह हम आगे सिद्ध करेंगे। इस मन्त्र-खण्ड में ऋभुओं की एक महिमा बताई गई है कि वे एक अनाज को चार बना देते हैं। जिस भूमि में साधारण तौर पर एक मन अनाज उत्पन्न होता है उसी में ऋभुओं की क्रिया-कुशलता से चार मन होने लगता है। अभिप्राय यह है कि सम्राट् को राष्ट्र में ऐसे क्रिया-कुशल विद्वान् लोग तैयार करने चाहिए जो राष्ट्र की कृषि का गहरा अध्ययन करते रहें और ऐसे उपाय सोचते रहें जिनको प्रयोग में लाने से राष्ट्र की कृषि की उपज पहले से चार गुनी बढ़ जाए।

(6) यह इन्द्र (सम्राट्) उपजाऊ (उर्वरा) भूमियाँ देने वाला है। राज्य को चाहिए कि वह राष्ट्र की भूमियों को उपजाऊ बनाने के उपाय सोचता रहे। (7) हे अग्नि (सम्राट्) तू बहुत धन के साथ हमारी ओर देख, तू हमें प्रतिदिन अन्न प्राप्त कराने वाला बन। राजा को चाहिए कि देखे कि राष्ट्र में इतना अन्न उत्पन्न होता रहे कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन भरपूर खाने को मिलता रहे, किसी को भूखा न रहना पड़े।

(8) हे ऋभुओ तुम अपनी जिन बुद्धियों से (शचीभिः) अन्नों (चमसाँ) को बनाते हो (अपिंशत) और जिस बुद्धि से भूमि को (गाम्) ऊपर के कठोर छिलके से (चर्मणः) बाहर निकालते हो (उन बुद्धियों के कारण ही तुम देव कहलाते हो)। ऋभु अर्थात् सम्राट् के क्रिया-कुशल विद्वान् लोग अपनी बुद्धियों से अन्नों को बनाते हैं इसका भाव यह है कि वे वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा कृषि के पदार्थों के पारस्परिक योग-विभागों द्वारा अनेक नये अथवा अधिक परिष्कृत अन्न बनाते रहते हैं।

## भूमि को उपजाऊ बनाने वाले विशेषज्ञ

वे कठोर छिलके को तोड़कर भूमि को बाहर निकालते हैं इसका भाव यह है कि जो भूमियाँ ऊपर से इतनी कठोर हैं कि उनमें किसी प्रकार का अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता उन्हीं में से क्रिया-कुशल लोग वैज्ञानिक उपायों द्वारा उपजाऊ कोमल भूमि निकाल लेते हैं। यहाँ अन्न (चमसं) के साहचर्य से गौ का अर्थ भूमि करना होगा। चमड़े का अर्थ भूमि के ऊपर की कठोर पपड़ी या छिलका करना चाहिए। सायण आदि ने यहाँ भी गौ का अर्थ जो गौ-पशु ही किया है वह असंगत है। इन ऋभुओं का सम्राट् से सम्बन्ध है। फलतः मन्त्र से शिक्षा यह निकली कि राज्य को ऐसे क्रिया-कुशल विद्वान् भी तैयार करने चाहिए जो कृषि में नये-नये अन्न तैयार करते रहें और राष्ट्र की कृषि के अयोग्य कठोर भूमियों को वैज्ञानिक उपायों से कृषि योग्य बनाते रहें।

(9) ये ऋभु लोग खेतों को उत्तम बना देते हैं, नदियाँ (सिन्धून्) अर्थात् नहरें चला देते हैं, इनकी महिमा से रेगिस्तानों (धन्व) में अनाज (ओषधीः) उत्पन्न होने लगते हैं और जलाशय पानी से भर जाते हैं। राज्य को ऐसे कुशल शिल्पी रखने चाहिए जो राष्ट्र के खेतों को और अधिक उत्तम बनाते रहें, पानी देने के लिए नहरें निकलवाते रहें और रेगिस्तानों को भी बसाकर अन्न और जल से युक्त करने के उपाय सोचते रहें।

(10) हे ऋभुओ ! तुम अपनी उत्तम कर्मों को करने वाली (स्वपस्यया) श्रेष्ठ क्रिया-कुशलता से (सुकृत्यया) एक अन्न को चार प्रकार का (चतुर्धा) बना देते हो। ऋभुओं की पीछे यह महिमा बताई गई है कि वे अन्न को चार गुणा बना देते हैं। यहाँ यह महिमा बताई गई है कि वे एक अनाज को चार प्रकार का बना देते हैं। उनकी क्रिया-कुशलता से एक प्रकार की कपास की चार प्रकार की जातियाँ बन जाती हैं। एक प्रकार का ईख चार प्रकार की जातियों वाला बन जाता है इत्यादि। राजा को चाहिए कि वह अपने कृषि-विभाग में इस प्रकार के विद्वान् रखे जो कृषि की वस्तुओं की जातियाँ बढ़ने के वैज्ञानिक उपाय सोचते रहें।

(11) हे अग्नि (सम्राट्) तेरे स्तुतिकर्ता हम लोगों को तू नये-नये अन्न दे जिन्हें खाकर लोग उत्कृष्ट मनुष्य बन जाए। राज्य का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र में नई-नई वस्तुओं की खेतियाँ कराये और खेतियाँ ऐसे उत्तम ढंग से की जावें कि उनके अन्नों को खाकर लोगों के शरीर और मन पहले से उत्कृष्ट बन जायें।

(12) हे सैंकड़ों प्रकार के ज्ञान-कर्म वाले इन्द्र (सम्राट्) ! हमें भद्र ही भद्र अन्न और रस दीजिए। राष्ट्र के लोगों को खाने-पीने के लिए भद्र—उत्कृष्ट, अन्न-रस मिलें इस बात का ध्यान रखना सम्राट् का कर्तव्य है। (13) अपने खेतों की सिद्धि के लिए हमारे विचार अग्नि (सम्राट्) की ओर जाते हैं। प्रजाजन जब कभी अपने खेतों की उपज आदि की कमी के सम्बन्ध में शिकायत करें तो राज्य को वह सुननी चाहिए और उनके खेतों की त्रुटियों को दूर करना चाहिए। (14) हे इन्द्र (सम्राट्) यव आदि अन्न चाहने वाला मेरा मन तेरे पास ही पहुँचता है।

(15) हे इन्द्र (सम्राट्) तेरी आशा से कि तू मेरी सहायता करेगा मैं हाथ में दाँती लेता हूँ, हे ऐश्वर्यशाली चाहे तू क्षीण (दिनस्य) और चाहे खूब समृद्ध (संभृतस्य) जौ आदि अनाज से मेरी मुट्ठी भर दे। इस मन्त्र का भाव यह है कि हे सम्राट् मैं खेती करता हूँ और उसे काटने के विचार से हाथ में इस आशा से दाँती लेता हूँ कि तू अपने प्रबन्ध से खूब जलादि दिलवाकर उसे बढ़िया खेती बना देगा। तू यदि अपना कर्तव्य पालन करे तो मुझे अच्छा अनाज मिलेगा। और यदि तूने अपने कर्तव्य का पालन न किया तो मेरी खेती मारी जायेगी और मुझे क्षीण अनाज मिलेगा। यहाँ भी स्पष्ट उपदेश है कि राज्य को राष्ट्र की कृषि की उन्नति में पूर्णरूप से तत्पर रहना चाहिए।

(16) वह हमारा मंगलकारी मित्र इन्द्र (सम्राट्) दूध की धाराएँ बहाने वाली गौ की तरह प्रभूत मात्रा में हमें जौ आदि अन्न देता है। (17) हे इन्द्र (सम्राट्) तू हमें जौ आदि अन्न दे, गौवें दे, ऐसी बुद्धि दे जिससे बल और रस प्राप्त हो। (18) हे बहुतों द्वारा चुने गये (पुरुहूत) इन्द्र (सम्राट्) हम तेरी विधाओं की शिक्षा से (गोभिः) बुरा आचरण कराने वाली अज्ञानता (अमतिं) को तर जायें और तेरी सहायता से मिलने वाले जौ आदि अन्न हम से सब प्रकार की भूख को तर जायें। सब प्रकार की भूख को तर जायें इस वाक्य की व्यंजना यह है कि यहाँ जौ खाली जौ को नहीं कहता प्रत्युत गेहूँ आदि अन्य अनाजों का भी उपलक्षण है।

वेद के इन उद्धरणों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद की सम्मति में राजा को राष्ट्र की कृषि पर पूरा निरीक्षण रखना चाहिए और उसकी उन्नति के लिए सदा चिन्ताशील रहना चाहिए। कुशल विद्वानों को इस कार्य में नियुक्त कर देना चाहिए।

### कृषि पर राज्य का नियन्त्रण

इस सूक्त के सातवें मन्त्र में यह वाक्य आता है—'इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु' अर्थात् 'इन्द्र (सम्राट्) सीता का निग्रह रखे।' खेत में हल चलाने से जो गहरी लकीरें पड़ती जाती हैं उन्हें सीता कहते हैं। सीता का निग्रह रखने का भाव यह है कि राष्ट्र की कितनी भूमि में हल चलेगा और उनमें क्या बोया जायेगा इस पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए, यह इस वाक्य से स्पष्ट सूचित होता है।

### कृषि सम्पदा में राज्य का भाग

इस खण्ड को समाप्त करने से पहले अथ० 3.24 सूक्त पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। यह 7 मन्त्रों का सूक्त भी सारा कृषि-विषयक है। इसके छठे मन्त्र में एक विशेष बात कही गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥

अथ० 3.24.6.

अर्थात्—'तीन मात्राएँ गन्धर्वों की हैं, चार गृहपत्नी की हैं, उनमें से जो सबसे समृद्ध मात्रा है उससे हे धान्य हम तुझे बढ़ाते हैं (अभिमृशामसि)।' इस मन्त्र से दो शिक्षाएँ मिलती हैं। एक तो यह कि कृषि से जो अन्न उत्पन्न हो उसके तीन भाग (मात्राः) तो गन्धर्वों के पास जाने चाहिए और चार भाग (मात्राः) गृहपत्नी के पास अर्थात् कृषक के घर जाने चाहिए। यदि गन्धर्व का अर्थ राज्य-कर्मचारी ले लिया जाये तो, क्योंकि वे गौ अर्थात् पृथिवी को धारण करते हैं, इसका यह भाव होगा कि कृषि की उपज का 3/7 भाग (या उसका मूल्य) तो राज्य ले और 4/7 भाग कृषक के पास रहे। कृषक का कृषि की फसल पर जो व्यय होगा उसे निकाल कर उसके पास जो शुद्ध आय बचेगी उसी में से राज्य को यह 3/7 भाग कर के रूप में दिया जायेगा यह एक शिक्षा तो राज्य-प्रबन्ध सम्बन्धी निकलती है।

### कृषि की नस्लों को उन्नत करने का एक उपाय

दूसरी शिक्षा कृषि-शास्त्र सम्बन्धी निकलती है। वह यह कि कृषि की उपज का जो सबसे समृद्ध—सबसे बढ़िया—भाग है उसे धान्य की वृद्धि के लिए, खेत में बीज डालकर आगामी फसल तैयार करने के लिए, रख लेना चाहिए। बीज के लिए सबसे बढ़िया भाग रखना चाहिए। उसे खाने के काम में नहीं लाना चाहिए। तभी कृषि की उत्तरोत्तर उन्नति हो सकती है।

# राज्य और वाणिज्य

अथर्ववेद 3.15 सूक्त का नाम वणिक् सूक्त है। सूक्त के मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥
अथ० 3.15.1.

2. ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥
अथ० 3.15.2.

3. इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥
अथ० 3.15.3.

4. इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ॥
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥
अथ० 3.15.4.

5. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध ॥
अथ० 3.15.5.

6. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥
अथ० 3.15.6.

7. उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ अथ० 3.15.7.

8. विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ।।

अथ० 3.15.8.

इनका अर्थ क्रम से निम्नांकित है—

(1) मैं वणिक् इन्द्र को प्रेरणा करता हूँ, वह हमारे पास आये और हमारे आगे चलने वाला बने, वह हमारा स्वामी व्यापार के विघातक शत्रुओं को (अरातिं) मार्ग रोककर बैठने वाले चोर-डाकू आदि को (परिपन्थिनम्), और व्याघ्र आदि पशुओं को (मृगं) हटाता हुआ मेरे लिए धनदा बने ।

मन्त्र में इन्द्र (सम्राट्) को वणिक् कहा गया है । इन्द्र (सम्राट्) से उपलक्षित राज्य को वाणिज्य की अभिवृद्धि में विशेष अभिरुचि लेने के कारण उपचार से इन्द्र को वणिक् ही कह दिया गया है । सम्राट् और वणिक् के इस औपचारिक तादात्म्य का भाव इतना ही है कि सम्राट् को राष्ट्र के वाणिज्य-व्यवसाय की वृद्धि में विशेष प्रयत्न करने वाला होना चाहिए । 'हमारे आगे चलने वाला बने' का अभिप्राय यह है कि राजा को चाहिए कि वह अपने विशेषज्ञ पुरुषों द्वारा सदा ही राष्ट्र के लोगों को वाणिज्योन्नति के उपाय बताकर उनका नेतृत्व करता रहे—उन्हें मार्ग सुझाता रहे । 'इन्द्र को प्रेरणा करता हूँ' का मर्माशय यह है कि राष्ट्र के प्रजाजनों का यह कर्तव्य है कि वे जब कभी राज्य प्रमाद और उपेक्षावृत्ति धारण करने लगे तभी 'सभा और समिति' में प्रस्तावों द्वारा वाणिज्य-व्यवसाय के प्रति राज्य के जो कर्तव्य हैं उनके प्रति उसे सचेष्ट कर दें । यदि प्रजाजन समय-समय पर राजा को उसके वाणिज्य सम्बन्धी कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट न करते रहेंगे तो उसके प्रमादी हो जाने की भारी आशंका रहेगी । 'व्यापार के विघातक शत्रुओं को हटाने' का तात्पर्य यह है कि राज्य को चाहिए कि जब कभी दूसरे राष्ट्र हमारे राष्ट्र के साथ व्यापार-सम्बन्ध में आकर ऐसी चालें चलने लगें जिनसे हमारे राष्ट्र के वाणिज्य को धक्का पहुँचने का भय हो अथवा हमारे ही कुछ राष्ट्र के लोगों का गुट्ट ऐसी चालें चलने लगे जिनसे सर्वसाधारण प्रजा के वाणिज्य और तद्जन्य उसकी आजीविका को हानि होने की आशंका हो, तो राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसी चालों को झट रोक दे । अभिप्राय यह है कि जो स्वराष्ट्र और पर-राष्ट्र के लोग किसी भी तरह से हमारे प्रजाजनों के वाणिज्य-व्यवसाय को हानि पहुँचाते हैं वे व्यापार के शत्रु हैं और राजा को उनका दमन करना चाहिए । इसके अतिरिक्त मार्गों में पड़ने वाले चोर-डाकू और हिंसक पशुओं का दमन करके उन्हें व्यापारियों के लिए निर्भय और निरापद् बनाना भी राजा का कर्तव्य है । इस प्रकार वाणिज्य के सभी प्रतिबन्धों को हटाकर सम्राट् को प्रजाजनों के लिए धनदा बनाना चाहिए ।

(2) द्यौ और पृथिवी के बीच में व्यापारी लोगों के चलने के (देवयानाः) जो बहुत देशों में आने-जाने वाले (बह्वः) अनेक मार्ग हैं वे पय और घृत से मेरी सेवा करें जिससे मैं पण्य वस्तुओं को बेचकर (क्रीत्वा) धन ला सकूँ।

'द्यौ और पृथिवी के बीच में चलने वाले व्यापारियों के मार्ग' इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि जिस प्रकार पृथिवी पर व्यापार मार्ग हों उसी प्रकार अन्तरिक्ष में भी हों अर्थात् पृथिवी पर अनेक प्रकार की गाड़ियों तथा विभिन्न पशुओं पर लादकर पण्य की वस्तुएँ इधर से उधर ले जाई जायें और अन्तरिक्ष में विमानों द्वारा उन्हें देश-देशान्तर में ले जाया जाये। व्यापार में वायुयानों का भी उपयोग लिया जाये यह इस वाक्य से ध्वनित होता है। 'अन्तरा द्यावापृथिवी' कहने का यही अभिप्राय है। नहीं तो खाली 'पृथिव्याम्' ही कह देना पर्याप्त था। 'पृथिव्याम्' न कहकर जो 'अन्तरा द्यावापृथिवी' कहा गया वह उपर्युक्त भाव को ध्वनित करने के लिए ही है। 'व्यापार के मार्ग पय और घृत से मेरी सेवा करें' कहने का भाव यह है कि व्यापार के मार्ग इतने निरापद हों कि व्यापार की वस्तुयें बिना किसी आशंका के उन पर इधर से उधर ले जाई जा सकें। 'पयः' का अति प्रसिद्ध अर्थ दूध और पानी है। वेद में इसका अर्थ अन्न भी होता है। निघं० 2.7 में भी पयः का अर्थ अन्न दिया गया है। यहाँ पय और घृत व्यापार की वस्तुओं के उपलक्षण होकर आये हैं। यहाँ इनका तात्पर्य खाली पय और घृत का ही नहीं है। श्री सायण ने इस वाक्य का भाव यह लिया है कि मार्गों में 'क्षीर-घृतोपलक्षित अन्नपान' का यथेष्ट प्रबन्ध करना चाहिए जिससे व्यापारियों को किसी प्रकार का क्लेश न होने पावे। व्यापार-मार्गों के 'बह्वः' विशेषण का भाव यह है कि उनका अनेक देशों के साथ सम्बन्ध हो जिससे व्यापार की खूब वृद्धि हो सके।

(3) हे अग्ने (सम्राट्) [वाणिज्य लाभ को] चाहता हुआ मैं, वाणिज्य में वेग और बल के लिए [तेरी संरक्षा में] इध्म और घृत की रीति से (इध्मेन, घृतेन) [वाणिज्यरूपी यज्ञ-कुण्ड में] हव्य की आहुति देता हूँ (हव्यं जुहोमि), जब तक कि मैं, अपनी इस व्यवहार-कुशल (देवीम्) बुद्धि की ज्ञान से (ब्रह्मणा) वन्दना करता हुआ अपरिमित धन लाभ के लिए (शतसेयाय) समर्थ न हो जाऊँ।

जैसे यज्ञ-कुण्ड की अग्नि को प्रदीप्त और प्रज्वलित करने के लिए उसमें इध्म (ईंधन) और घृत डालते रहते हैं वैसे ही वाणिज्य को चमकाने के लिए भी उसमें 'हव्य' डालने की आवश्यकता रहती है। जो दिया जाय वह हव्य है। वाणिज्य की वृद्धि के लिए जो धन व्यापार में लगाया जायेगा वह वाणिज्य का हव्य होगा। परन्तु वाणिज्य में डाला जाने वाला यह हव्य (धन) इध्म और घृत होकर पड़े। इध्म का शब्दार्थ है जो प्रज्वलित कर दे—'इध्मः समिन्धनात्' (निरु० 8.1.4), और

घृत का अर्थ भी है जो किसी में पड़कर उसे प्रदीप्त कर दे (घृ क्षरणदीप्त्योः)। व्यापार में धन इसलिए लगाना चाहिए कि वह व्यापारोन्नति के लिए इध्म और घृत बन जाये—उसे प्रज्वलित कर दे, प्रदीप्त कर दे। व्यापार में इस रीति से लगाये हुए धन का परिणाम यह होगा कि उसमें वेग आ जायेगा—वह शीघ्रता के साथ वृद्धि करने लगेगा और उसमें बल आ जायेगा—वह समृद्ध होकर तज्जन्य लाभ द्वारा हमें पुष्टि और बल दे सकेगा। व्यापार में धन इध्म और घृत की रीति से लगाया जा सके इसके लिए आवश्यक है कि पहले अपनी बुद्धि को व्यवहार-कुशल बनाया जाये—व्यापार के सारे मर्मों को सीख लिया जाये, और फिर उसकी ज्ञान से वन्दना की जाय। बुद्धि की ज्ञान से वन्दना करने का तात्पर्यार्थ यह है कि उसे नये-नये ज्ञान सिखाये जाते रहें। भाव यह है कि व्यापारियों को वाणिज्य में लगने से पहले तो अपनी बुद्धियों को व्यवहार-कुशल बना ही लेना चाहिए, परन्तु व्यावहारिक जीवन में प्रविष्ट हो जाने के पीछे भी उसे नये-नये व्यापारोपयोगी ज्ञान सीखते रहना चाहिए। इस प्रकार के बुद्धि के धनी वणिक् लोग वाणिज्य में जो धन लगावेंगे वह उसके लिए इध्म और घृत बनकर उसको प्रदीप्त करेगा। और इस विधि से चलने वाले वणिक् लोग अपरिमित धन प्राप्त कर सकेंगे। मन्त्र में वाणिज्य का वर्णन यज्ञ के अलंकार में किया गया है। इसकी व्यंजना यह है कि जिस प्रकार अग्निहोत्रादि यज्ञ बड़ी पवित्र भावना के साथ किये जाते हैं उसी प्रकार वाणिज्य-व्यवसाय को भी बड़ी पवित्र भावना के साथ करना चाहिए। वाणिज्य में असत्य, छल, कपट आदि पाप नहीं घुसने देने चाहिए। अग्नि, अर्थात् सम्राट् को जो मन्त्र में सम्बोधन किया गया है उसका भाव यह है कि राष्ट्र के वणिक् जन-राज्य से समुचित रक्षा की प्रार्थना कर रहे हैं और इस प्रार्थना द्वारा राजा का यह कर्तव्य बता दिया गया है कि उसे राष्ट्र के वाणिज्य-व्यवसाय की समुचित रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए।

(4) हे सम्राट् (अग्ने) [वाणिज्य के लिए] हम जिस मार्ग पर दूर चले जाते हैं [उसमें होने वाली हमारी] इस हिंसा (शरणिं) को हमारे लिए सह्य बना दे (मीमृषः) हमारा प्रपण अर्थात् देशांतर में ले जाकर बेची जाने वाली वस्तुएँ और उनका विक्रय हमारे लिए सुखकारी हो, तथा प्रतिपण अर्थात् देशान्तर से लाकर अपने देश में बेची जाने वाली वस्तुएँ मुझे लाभवान् बनायें। मिलकर रहने वाले हम और तुम दोनों हे अग्ने इस हव्य का सेवन करें, वाणिज्य में लगाया हुआ (चरितम्) और उससे लाभ में प्राप्त हुआ (उत्थित) धन हमारे लिए सुखकारी होवे।

## प्रपण और प्रतिपण

'वाणिज्य के लिए हम जिस मार्ग पर दूर जाते हैं', इस वाक्य से यह सूचना

मिलती है कि धनाभिलाषी वणिकों को अपनी चीजें दूर-दूर देशों में ले जाकर बेचनी चाहिए और वहाँ की वस्तुयें अपने देश में लाकर बेचनी चाहिए। अपने देश से देशान्तर में ले जाकर बेची जाने वाली वस्तुओं को मन्त्र में 'प्रपण', और देशान्तर से लाकर अपने देश में बेची जाने वाली वस्तुओं को 'प्रतिपण' कहा है। बेचने के लिए 'विक्रय' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'सम्राट् मार्ग में होने वाली हिंसा को सह्य बना दे', इस वाक्य का भाव यह है कि राजा को चाहिए कि वह मार्गों को सब प्रकार की हिंसा से शून्य—सर्वथा निष्कण्टक—बना दे जिससे व्यापारी लोग स्वच्छन्दता के साथ इधर-उधर जा सकें। 'हम दोनों मिलकर हव्य का सेवन करें', इसका अभिप्राय यह है कि राजा और व्यापारियों को परस्पर मिलकर—अनुकूल होकर—रहना चाहिए। इसका फल यह होगा कि व्यापारी लोग सुरक्षित होकर खूब धन कमा सकेंगे और उनके धनवान् बनने से राजा को कर रूप में प्रभूत धन प्राप्त होगा। इस प्रकार व्यापार में लगाये गये 'हव्य' का दोनों ही सुख-पूर्वक सेवन करेंगे।

## चरित और उत्थित

मन्त्र के अन्तिम चरण में व्यापार में लगाये हुए धन को 'चरित' और व्यापार द्वारा कमाये हुए धन को 'उत्थित' क्रम से ये दो परिभाषाएँ बताई गई हैं।

(5) हे राज्याधिकारियो ! (देवाः) धन से धन की कामना करने वाला मैं जिस धन से प्रपण अर्थात् बेचने के लिए वस्तुओं को खरीदता हूँ (चरामि) वह मेरा धन अधिक ही होवे, कम न होवे, हे सम्राट् (अग्ने) मेरे लाभ को नष्ट करने वाले (सातघ्नः) राज्यकर्मचारियों को मेरे इस 'हवि' से निषेध कर।

मन्त्र में प्रयुक्त 'देवाः' शब्द राज्यकर्मचारियों का वाचक समझना चाहिए। सूक्त में इन्द्र और अग्नि से वाणिज्य वृद्धि और रक्षा की प्रार्थना की गई है। स्वयं इस मन्त्र में भी अग्नि से प्रार्थना है। इन्द्र और अग्नि दोनों ही शब्द सामान्येन राजा के वाचक हैं। दिव्यगुण सम्पन्न होने से सम्राट् देव भी होता ही है। लौकिक संस्कृत तक में 'देव' शब्द राजा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यहाँ देव शब्द एकवचन में प्रयुक्त न होकर बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए यहाँ इसका अर्थ राज्यकर्मचारी समझ लेना चाहिए। क्योंकि राजा के प्रतिनिधि होने से राज्यकर्मचारी भी देव ही हैं। राज्यकर्मचारियों से व्यापार में धन-वृद्धि की जो प्रार्थना मन्त्र में की गई है उसका भाव यह है कि राज्य को अपने राष्ट्र के व्यापारियों की व्यापार में जहाँ तक हो सके अधिक-से-अधिक सहायता करनी चाहिए जिससे उन्हें घाटे के कम-से-कम अवसर प्राप्त हों। 'लाभ को नष्ट करने वाले राज्यकर्मचारियों का निषेध कर', इसका भाव यह है कि राजा को चाहिए वह अपने राज्य में ऐसे राज्यकर्मचारी न

रहने दे जो व्यापारियों के व्यापार में अनुचित हस्तक्षेप करके उन्हें हानि पहुँचाते हों। राज्यकर्मचारियों के हाथ में बड़ी शक्ति होती है। वे लोभ के वशीभूत होकर व्यापारियों से उत्कोच (रिश्वत) आदि के रूप में प्रभूत धन माँगने लग सकते हैं और इस प्रकार, तथा व्यापारियों से अन्यान्य रूप में धन न मिल सकने की अवस्था में उनके व्यापार में कई प्रकार की रुकावटें डालकर, व्यापार को हानि पहुँचाने लग सकते हैं। राजा का कर्तव्य है कि राज्य में ऐसे राजकर्मचारियों को न रहने दे। 'हवि से निषेध कर', इसका भाव यह है कि व्यापारी लोग राजा को हवि (कर) देते रहें और राजा का कर्तव्य है कि वह उस कर के बदले में उनके व्यापार को हानि पहुँचाने वाले लोगों से उनकी रक्षा करता रहे। हवि का शब्दार्थ है—जो दिया जाय। प्रजाओं द्वारा राजा को दिया जाने वाला धन राजा का हवि है।

(6) हे देवो धन से धन की इच्छा करने वाला मैं जिस धन से प्रपण को खरीदता हूँ (चरामि) उसमें प्रजा का पालक (प्रजापतिः) इन्द्र (सम्राट्), सविता, सोम और अग्नि [ये तुम सब देव] मेरी रुचि करें।

सविता, सोम और अग्नि कर्तव्य-भेद से सम्राट् (इन्द्र) के ही नाम हैं। इनसे व्यापार में रुचि कराने की प्रार्थना करने का तात्पर्य यह है कि राजा को चाहिए कि वह पण्य वस्तुओं की स्थान-स्थान पर प्रदर्शनियाँ कराकर तथा और भी अनेक उपायों का अवलम्बन करके लोगों की व्यापार में रुचि उत्पन्न करता रहे। जिस राष्ट्र के वैश्यों की रुचि व्यापार की ओर मन्द पड़ जायेगी वह वैभवशाली नहीं हो सकता। राष्ट्र को वैभवशाली बनाने के लिए राज्य को प्रत्येक उपाय का अवलम्बन करना चाहिए जिससे लोगों की व्यापार में रुचि बढ़े।

(7) राष्ट्र को मंगल देने वाले (होतः) और सब लोगों के हितकारी (वैश्वानर) हे सम्राट्! हम अन्न के साथ (नमसा) तेरी स्तुति करते हैं, तू हमारी सन्तानों, हमारी गौ आदि पशुओं और हमारे प्राणों के निमित्त जागता रह।

यहाँ 'अन्न' शब्द राजा को कर रूप में दिये जाने वाले धन का उपलक्षण है। मन्त्र का भाव है कि हे राजा हम तुम्हें कर देते हैं और उसके बदले में सदा जागरूक होकर—आलस्य प्रमाद छोड़कर—तू हमारी सन्तानों और हमारे प्राणों की रक्षा और वृद्धि कर अर्थात् हमें पुष्ट और बलिष्ठ बना, जिससे हम खूब व्यापार कर सकें। 'गौ' शब्द से यह सूचना दी गई है कि जो पुष्ट और प्राणवान् बनना चाहते हैं उन्हें गौ के दूध, मक्खन, मलाई आदि का खूब सेवन करना चाहिए। साथ ही व्यापार के प्रकरण में इस मन्त्र के रखने से यह भी सूचना मिलती है कि व्यापारियों को अपने शरीर को पुष्ट और बलिष्ठ बनाना चाहिए। उस अवस्था में उनका व्यापार उनके लिए और भी सुख और मंगलकारी हो सकेगा।

(8) हे धन उत्पन्न करने वाले और ज्ञानी (जातवेदः) राजन् (अग्नि) हम सदा तुझे भरण-पोषण देते हैं (भरेम) जैसे कि अपने स्थान पर खड़े हुए घोड़े को घास दिया करते हैं, धन की पुष्टि और अन्न से हर्ष मनाते हुए हम तेरे सेवक या पड़ोसी (प्रतिवेशाः) कभी नष्ट न होवें।

राजा को भरण-पोषण देने का अभिप्राय उसे कर रूप में धन देना है जिससे राज्य-प्रबन्ध की सारी आवश्यकताएँ पूरी होती रह सकें। राजा को कर देने से हमें उसकी रक्षा प्राप्त होगी। उस रक्षा में हम अपने वाणिज्य-व्यवसाय अच्छी तरह कर सकेंगे। वाणिज्य द्वारा धन और अन्न प्राप्त होंगे जिससे हमें पुष्टि प्राप्त होगी। और इस प्रकार हम शीघ्र होने वाले विनाश से बच जायेंगे।

इस सूक्त में पाठक देखेंगे कि कवितामयी भाषा में जहाँ राष्ट्र के लिए व्यापार का महत्त्व और व्यापार के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है वहाँ राजा का भी किस सुन्दर रीति से यह कर्तव्य बता दिया गया है कि उसे राष्ट्र के व्यापार में गहरी रुचि लेनी चाहिए, उसके लिए सब प्रकार की सुविधाएँ उपस्थित करनी चाहिए और लोगों की रुचि व्यापार की ओर बढ़ाने के उपाय सोचते रहने चाहिए।

# कराधान के सिद्धान्त

राज्य प्रबन्ध के लिए राजा को धन की आवश्यकता होती है। राजा प्रजाओं से कर लेकर ही धन प्राप्त कर सकता है। 'राजा प्रजाओं से कर लिया करे' ऐसा आदेश देने वाले कुछ मन्त्र यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

1. इन्द्र सोमं पिब ऋतुनाऽऽत्वा विशन्त्विन्दवः।
   मत्सरासस्तदोकसः॥ ऋग्० 1.15.1.
2. मरुत्वन्तं हवामह इन्द्रमा सोमपीतये।
   सजूर्गणेन तृम्पतु॥ ऋग्० 1.23.7.
3. द्युम्नैरभि णोनुमः। ऋग्० 1.78.1–5.
4. भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम्। ऋग्० 2.21.1.
5. यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनोभूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः।
   ऋग्० 3.32.12.
6. सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्। ऋग्० 3.47.2.
7. उत ऋतुभिर्ऋतुपाः पाहि सोममिन्द्र देवेभिः सखिभिः सुतं नः।
   ऋग्० 3.47.3.
8. यस्त्वा स्वश्वः सुहिरण्यो अग्न उपयाति वसुमता रथेन।
   तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग् जुजोषत्॥
   ऋग्० 4.4.10.
9. तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात्।
   ऋग्० 5.1.10.
10. य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति।
    न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति॥
    ऋग्० 10.160.3.

11. अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान् न सुनोति सोमम्।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥
ऋग्० 10.160.4.

12. अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्। ऋग्० 10.173.6.

मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे इन्द्र (सम्राट्) तू ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य का (सोमं) पान कर, ये ऐश्वर्य (इन्दवः) तुझे प्राप्त हों, तुझे हर्षित करने वाले हों और सदा तेरे घर अर्थात् राज्य-कोष में रहें।

मन्त्र के 'राजा ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य का पान करे', इस वाक्य का भाव यह है कि ऋतु-ऋतु में राज्य में जो भाँति-भाँति की वस्तुएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनका जो लेन-देन होता रहता है उससे प्रजाजनों को प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य में से राजा भी कुछ भाग लिया करे जिससे वह राज्य-प्रबन्ध कर सके। 'ये ऐश्वर्य तुझे प्राप्त हों', इस वाक्य का भाव यह है कि राजा को यह देखना चाहिए कि प्रजाओं से प्राप्तव्य धन राज्य-कोष में अवश्य प्राप्त हो जाता है। उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार की ढील न रहे। 'हर्षित करने वाले हों' का भाव यह है कि राजा प्रजा से प्राप्तव्य धन को इस रीति से प्राप्त करे और उसका व्यय भी इस रीति से करे कि राजा और प्रजा सभी को हर्ष प्राप्त हो। 'तेरे घर अर्थात् राज्य-कोष में रहें' का अभिप्राय यह है कि राज्य-कोष कभी खाली नहीं रहना चाहिए। वह सदा धन से भरा रहे।

## सोम का अर्थ भाँति-भाँति के ऐश्वर्य

हमने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'सोम' और 'इन्दु' शब्दों का अर्थ ऐश्वर्य किया है। यहाँ भी और अन्यत्र भी बहुत बार सोम और इन्दु शब्द पर्याय रूप में व्यवहृत हुए हैं। इन्दु शब्द 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से तथा सोम शब्द 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः' धातु से निष्पन्न होता है। इसलिए धात्वर्थ के बल पर इन दोनों शब्दों का एक अर्थ धन-सम्पत्ति आदि ऐश्वर्य के पदार्थ भी होगा। और-और अर्थों के साथ सोम शब्द का वेद के व्याख्यान ब्राह्मण-ग्रन्थों में निम्न अर्थों में भी प्रयोग हुआ है—

1. पशवो हि सोमः। शत० 12.7.2.2.
2. सोमो वै दधि। कौ० 8.9.
3. अन्नं सोमः। शत० 3.3.4.28.
4. अन्नं वै सोमः। शत० 3.9.1.8.
5. स हि सौम्यो यद् बभ्रुः (गौः)। शत० 5.2.5.12.

6. रसः सोमः। शत० 7.3.1.3.
7. सर्वं हि सोमः। शत० 5.5.4.11.
8. सौम्या ओषधयः। शत० 12.1.1.2.

ये सारी चीजें ही मिलकर किसी गृहस्थ का ऐश्वर्य बनाती हैं। इतना ही नहीं—

1. श्रीर्वै सोमः। शत० 4.1.3.9.
2. सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रिया तनूरुदक्रामत् तत्सुवर्णं हिरण्यमभवत्। तै० 1.4.7.4–5.
3. (सोमस्य) अमृतोशुर्हिरण्यम्। कौ० 13.4.

इन ब्राह्मण-वाक्यों में तो स्पष्ट ही सोम को सुवर्ण आदि श्री (ऐश्वर्य) का वाचक कहा गया है। इसलिए इसके धात्वर्थ को ध्यान में रखते हुए सोम का एक सामान्य अर्थ ऐश्वर्य किया जा सकता है। ऋतु-ऋतु के अनुसार सम्राट् द्वारा ऐश्वर्य पान का भाव यही होगा कि वह प्रजा के ऐश्वर्य में से कुछ भाग प्राप्त करे। अर्थात् प्रजाओं से उनकी आय के अनुसार कर प्राप्त करे।

(2) मरुतों (सैनिकों) वाले इन्द्र (सम्राट्) को हम बुलाते हैं कि वह हमारे ऐश्वर्य (सोमं) का पान करे। हमसे ऐश्वर्य लेकर वह (सम्राट्) अपने सेना आदि राज्य-कर्मचारियों के गण के साथ तृप्त होकर रहे।

यहाँ प्रजाजनों को उपदेश दिया गया है कि उन्हें सदा ही अपने ऐश्वर्य में से राज्य का देय भाग देने के लिए उद्यत रहना चाहिए। जब राज्यकर्मचारी कर लेने आवें तो प्रजाजनों को उसे देने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए। प्रत्युत राज्य-कर्मचारियों को बुला-बुलाकर अपना भाग देना चाहिए। ऐश्वर्य-दान के लिए सम्राट् को बुलाने का यही भाव है।

(3) हे अग्ने (सम्राट्) हम प्रजाजन धनों के साथ (द्युम्नैः) तुम्हारा नमस्कार करते हैं—तुम्हारी आज्ञाओं के आगे झुकते हैं (अभि णोनुमः)।

इस मन्त्र-खण्ड की शिक्षा यह है कि प्रजाजनों को चाहिए कि वे सम्राट् के आगे झुकते रहें—उसकी आज्ञाओं को मानते रहें—और राज्य को अपना देय धन देते रहें। ऋग्वेद 1.78. सूक्त 5 मन्त्रों का सूक्त है। उसमें प्रजाजन अग्नि (सम्राट्) को सम्बोधन कर रहे हैं। पाँचों मन्त्रों का अन्तिम चरण यही मन्त्र-खण्ड है। इस प्रकार इस सारे सूक्त में प्रजाओं को राजा को कर के रूप में धन देने का उपदेश दिया गया है।

(4) हे प्रजाजन! इस पूजनीय, संगति करने योग्य और दान देने योग्य (यजताय) इन्द्र (सम्राट्) को कमनीय (हर्यतम्) धन (सोमं) दो। यहाँ भी प्रजाओं

को अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश राजा को देते रहना चाहिए इसका उपदेश किया गया है।

(5) हे इन्द्र (सम्राट्) जिसमें कि ऐश्वर्य उत्पन्न किया जाता है ऐसा (सुतसोमः) यह राष्ट्र रूप पवित्र यज्ञ तेरी वृद्धि करने वाला है और तुझे प्रिय है।

सम्राट् की रक्षा से राष्ट्र-यज्ञ द्वारा ऐश्वर्य उत्पन्न होते हैं, इस ऐश्वर्य के कुछ अंश से सम्राट् की वृद्धि होती है और इस प्रकार अपने ऐश्वर्य का भाग राजा को देने वाला राष्ट्र—प्रजाजन—राजा का प्रिय होता है। यहाँ भी एक प्रकार से यही उपदेश दिया गया है कि सम्राट् को राष्ट्र के ऐश्वर्य में से कुछ भाग कर द्वारा राज्य संचालन के लिए प्राप्त करना चाहिए।

(6) राष्ट्रोन्नति के बाधक विघ्नों को मारने वाले (वृत्रहा) हे विद्वान् इन्द्र (सम्राट्) आप हमारे ऐश्वर्य का पान कीजिए।

यहाँ भी सोमपान की प्रार्थना द्वारा वही उपदेश दिया गया है। इन्द्र का 'विद्वान्' विशेषण विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है। विद्वान् का अर्थ है, जानने वाला, समझदार। राजा प्रजाओं से कर रूप में धन तो प्राप्त करे, परन्तु समझदारी के साथ इतना कर ले जिसे प्रजाएँ सुगमता से दे सकें। प्रजाओं को कर-भार से इतना न लाद दें कि वे उस भार को उठा ही न सकें।

(7) हे ऋतु-ऋतु में ऐश्वर्य का पान करने वाले सम्राट् (इन्द्र) तू ऋतुओं के अनुसार, व्यवहारशील (देवेभिः) और तुम्हारे मित्र (सखिभिः) हम प्रजाजनों द्वारा तैयार किये हुए ऐश्वर्य का (सोमं) पान कर। यहाँ भी राजा प्रजाओं से ऋतु-ऋतु के अनुसार कर लेता रहे इसका स्पष्ट निर्देश है। प्रजाएँ जब राजा को कर दें तो उन्हें राज्य को अपने पर अत्याचार करने वाला कोई शत्रु नहीं समझना चाहिए प्रत्युत अपना मित्र समझकर देना चाहिए। राजा को भी प्रजाओं से कर इस रीति से लेना चाहिए कि वे उसे अपना मित्र समझ सकें। यह 'सखिभिः' विशेषण का भाव है।

(8) हे अग्नि (सम्राट्) जो उत्कृष्ट घोड़ों और उत्कृष्ट सुवर्ण से युक्त प्रजाजन धन से लदे हुए रथ के साथ तेरे पास आता है और इस प्रकार तेरा अतिथियों के योग्य सत्कार (आतिथ्यं) करता है उसी का तू रक्षक और मित्र बनता है।

राज्य प्रबन्ध किस प्रकार का होना चाहिए यह इस मन्त्र में बताया गया है। प्रजाजन इतने समृद्ध हों कि उनके पास प्रभूत मात्रा में अश्वादि पशु और सुवर्ण हों—ये इतनी प्रभूत मात्रा में हों कि प्रजाजन उसमें से राज्य को जो भाग दें वह भी रथ में लदकर राज्य-कोष में जाय। यहाँ भी राजा प्रजा की सम्पत्ति में से कुछ अंश कर के रूप में प्राप्त करता रहे इसकी स्पष्ट सूचना है।

(9) हे राष्ट्र में से बुरी बातों को छुड़ाने और अच्छी बातों को राष्ट्र में लाने वाले (यविष्ठ) अग्ने (सम्राट्) प्रजाजन (क्षतयः) समीप और दूर सब कहीं से कर (बलिं) लाकर तुझे देते हैं।

यहाँ तो स्पष्ट ही वर्णन है कि राजा को राष्ट्र की राजधानी से समीप और दूर कहीं भी रहने वाले प्रजाजनों से कर प्राप्त करना चाहिए। यहाँ कर के लिए संस्कृत साहित्य में प्रायः प्रयुक्त होने वाले 'बलि' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(10) जो व्यवहारों की सिद्धि चाहने वाला (देवकामः) प्रजाजन, [सम्राट् इसके बदले में रक्षा करेगा ऐसी] कामना वाले मन के साथ अपने पूरे दिल से इस इन्द्र (सम्राट्) के लिए ऐश्वर्य उत्पन्न करके देता है (सोमं सुनोति) उसकी गौवों (गौ, भूमि आदि) को यह नहीं छीनता और उसके लिए यह प्रशंसनीय और सुन्दर मंगल ही मंगल करता है।

जो राजा को कर रूप में ऐश्वर्य देते हैं उन्हीं का मंगल और रक्षण राज्य करता है। जो राज्य को कर न दें उनकी गौ, भूमि आदि को भी सम्राट् छीन सकता है यह भाव भी इस मन्त्र से स्पष्ट ध्वनित होता है।

(11) जो धनवान् होकर भी इस इन्द्र (सम्राट्) के लिए कर रूप में ऐश्वर्य नहीं देता (सोमं न सुनोति) यह उनके सामने जा पहुँचता है (अनुस्पष्टो भवति) और उसको पूरी तरह हाथ में कर लेता है (अरत्नौ निःदधाति) और इस प्रकार इन ब्रह्मद्वेषियों को मार देता है।

## जो लोग कर न दें उन्हें दण्डित किया जाये

जो धनी होकर भी राजा को कर नहीं देते वे यह न समझें कि वे धोखे और चालाकी से बच जाएँगे। नहीं, राज्यकर्मचारी उनका पता लगाकर उनके सामने जा पहुँचेंगे और उन्हें पूरी तरह काबू में कर लेंगे। वे छूट नहीं सकते। हाँ, जो निर्धन हों उन्हें राजा भले ही कर-दान से मुक्त कर दे। यहाँ धनी होकर भी राजा को कर न देने वालों को ब्रह्मद्वेषी कहा गया है। यहाँ महान् होने से ब्रह्म का अर्थ राष्ट्र कर लेना चाहिए। अथवा जैसे कि पीछे दिखा आये हैं ब्रह्म का अर्थ ज्ञान कर लेना चाहिए। राजा को कर प्राप्त न होगा तो वह राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकता। राष्ट्र में ज्ञान का, शिक्षा का प्रचार नहीं कर सकता। इसलिए ऐसे लोग वास्तव में ब्रह्मद्वेषी ही हैं।

(12) हे अभिषिच्यमान राजन्, इन्द्र ने प्रजाओं को तुझे कर देने वाली और केवल तेरी ही होकर रहने वाली अथवा तुझे सुख देने वाली (केवलीः) बना दिया है।

यहाँ प्रजाओं के लिए स्पष्ट ही 'बलिहृतः' अर्थात् 'कर देने वाली' विशेषण का प्रयोग हुआ है। इससे इसमें संदेह ही नहीं रह जाता कि राजा प्रजाओं से कर लिया करे और प्रजाएँ उसे सहर्ष कर दिया करें।

इसी प्रसंग में ऋग्वेद 10.179 सूक्त के प्रथम दो मन्त्र भी देखने योग्य हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्।
यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन॥ ऋग्० 10.179.1.

2. श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्॥
ऋग्० 10.179.2.

अर्थात्—(1) प्रजाजनों उठो और ऋतु-ऋतु में देने योग्य जो इन्द्र (सम्राट्) का भाग है उसकी ओर देखो। अर्थात् उसे देने की तैयारी करो। यदि वह भाग पका हुआ (श्रातं) अर्थात् पूरी तरह तैयार हो तो उसे समय पर दे दो (जुहोतन) और यदि पका हुआ अर्थात् तैयार नहीं है (अश्रातं) तो [किसी और तरह से, अगली ऋतु में सब हिसाब चुकता कर देने का वचन आदि देकर] उसे प्रसन्न करो (ममत्तन)।

(2) हे इन्द्र (सम्राट्) तुम्हें देने योग्य (हविः) भाग पका हुआ है अर्थात् पूरी तरह तैयार है। सूर्य अपने मार्ग के मध्य में जा चुका है अर्थात् आधा वर्ष बीत चुका है। हम तेरे मित्र प्रजाजन खजानों को लेकर (निधिभिः) तेरे पास आते हैं जैसे कि कुलों के रक्षक पुत्र गृहपति (व्राजपतिं)[1] के पास आते हैं।

यहाँ ऋतु-ऋतु में राजा को उसका भाग मिलता रहना चाहिए इसका स्पष्ट उपदेश है। जो लोग पुष्ट कारण बताकर राजा को प्रसन्न न कर लें वे राजा के ऋत्विय भाग से छूट नहीं सकते यह भाव भी प्रथम मन्त्र से स्पष्ट निकलता है।

## कर वर्ष में दो बार लिया जाया करे

दूसरे मन्त्र से यह भी प्रतीत होता है कि कर लेने के लिए वर्ष को दो भागों में बाँट दिया जाना चाहिए। वर्ष के एक भाग की समाप्ति पर उसका ऋत्विय प्रजाजनों को स्वयं, अपने आपको राजा का मित्र समझते हुए, राज्यकोष में पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इसी भाँति—

1. इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्। अथ० 1.8.1.
2. यातुधानस्य सोमप जहि प्रजाम्। अथ० 1.8.3.
3. सोमपा अभयङ्करः। अथ० 1.21.1.

4. बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः। अथ० 3.4.3.

5. दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

अथ० 12.1.62.

6. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि। अथ० 7.94.1.

वेद के इन मन्त्रों में भी प्रजाओं से कर-ग्रहण का स्पष्ट निर्देश है। इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हमारे इस हवि अर्थात् राजा को दिए जाने वाले कर भाग ने यातुधानों अर्थात् प्रजापीड़कों को इस तरह बहा दिया है जैसे नदी झाग को बहा देती है। (2) हे हमारे ऐश्वर्य का पान करने वाले अग्नि (राजन्) तू प्रजापीड़कों को नष्ट कर दे। ये दोनों मन्त्र खण्ड जिस सूक्त के हैं वहाँ अग्नि से यातुधानों (प्रजापीड़कों) को मारने की प्रार्थना की गई है। प्रजाजन कहते हैं कि हे सम्राट् हम तुझे ऐश्वर्य (सोम) की हवि देते हैं, तू उसका पान कर और बदले में हमारी रक्षा कर।

(3) यह इन्द्र (सम्राट्) हमारे ऐश्वर्य (सोम) का पान करता है उसके बदले में हमारे लिए अभय करता है। (4) हे सम्राट् प्रजाओं से प्राप्त होने वाले प्रभूत कर (बलि) की ओर देख। (5) हे मातृभूमि हम लम्बी-लम्बी आयु भोगते हुए तुझे कर (बलि) देते रहें। मातृभूमि को कर देने का अभिप्राय अपने राज्य को कर देना है। (6) ध्रुव दान द्वारा (हविषा) हम इन्द्र (सम्राट्) के पास ध्रुव ऐश्वर्य (सोम) पहुँचाते हैं।

## प्रजाओं पर लगाये जाने वाले कर निश्चित कर दिये जाने चाहिए

प्रजाजन कह रहे हैं कि हम स्थिर और निश्चित कर द्वारा राज्य-कोष को स्थिर बना देते हैं। इस मन्त्र में प्रजाओं पर स्थिर तौर पर कर लगाने का स्पष्ट निर्देश है।

अथर्ववेद के 5.19.3 मन्त्र में राजा को ब्राह्मण से शुल्क या कर लेने का निषेध किया गया है। कहा है कि जो लोग ब्राह्मण से शुल्क लेते हैं—'ये वास्मिन् छुल्कमीषिरे'—वे अनर्थ करते हैं और इसीलिए विपत्ति में फँसते हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्य प्रजाजनों से शुल्क या कर लिया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में वेदों के इन्द्र द्वारा सोम-पान सम्बन्धी सभी स्थल देखे जा सकते हैं। सोम पान के प्रायः सभी वर्णन प्रजाओं से कर-ग्रहण अर्थ में बड़े सुन्दर घटते हैं। प्रत्युत् अनेक वर्णन तो केवल कर-ग्रहण अर्थ में ही सुसंगत हो सकते हैं। सोम पान की जितनी विराट् महिमा अनेक स्थानों पर बताई गई है वह किसी बूटी के रस में वास्तव में हो ही नहीं सकती। प्रजाओं से ऐश्वर्य प्राप्त

करके तो एक इन्द्र (सम्राट्) अपने राष्ट्र में उन विराट् कर्मों को बड़ी सुन्दरता से कर सकता है।

## कर इतना लगाया जाये जो प्रजाजनों को पीड़ादायक न हो

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले हम पाठकों का ध्यान ऋग्वेद के निम्न मन्त्र की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं—

स जायमानः परमे व्योमन् वायुर्न पाथः परि पासि सद्यः।
त्वं भुवना जनयन्नभि क्रन्नपत्याय जातवेदो शस्यन् ॥

ऋग्० 7.5.7.

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'सबके हितकारी हे राजन् (वैश्वानर) तुम प्रादुर्भूत होते ही रक्षा के साधन अपने उत्कृष्ट राज्यासन पर (परमे व्योमन्) बैठकर, वायु जैसे पानी को (पाथः) पीता है वैसे ही प्रजा से कर रूप में प्राप्त पेय ऐश्वर्य को (पाथः) पीते हो (परिपासि) प्रजा में धन और ज्ञान उत्पन्न करने वाले हे राजन् (जातवेदः) प्रजा की कामनाओं को पूरा करते हुए (दशस्यन्) तुम, जनों की चाहना से युक्त होकर (जनयन्) राष्ट्र में (भुवना) सन्तानों के लिए (अपत्याय) घोषणा करते हो (अभिक्रन्)।

मन्त्र में 'वायु जैसे जल पीता है वैसे ही तुम प्रजा से कर रूप में प्राप्त पेय ऐश्वर्य को पीते हो' इस वाक्य का भाव यह है कि वायु जैसे बिना जाने जल को पी लेता है वैसे ही राजा को भी प्रजा में धन-ग्रहण ऐसी सूक्ष्म रीति से करना चाहिए कि उनको मालूम ही न पड़े। अर्थात् प्रजा से उतना ही कर लेना चाहिए, जो उन्हें पीड़ा देने वाला न हो। पीड़ा-रहित हलका कर-आधान करने से प्रजा निर्धारित कर-राशि को प्रसन्नता से चुका देती है और संतुष्ट रहती है तथा राज्य के साथ पूरा सहयोग करती है।

वेदों की फुलवारी के जागरूक बागबान और कुशल मालाकार **वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति** पिछले साठ वर्षों से बराबर वेदों का अनुशीलन, पर्यालोचन और रहस्यान्वेषण कर रहे हैं। एक अधिकारी अध्येता और प्रवक्ता के रूप में वेद के निगूढ़ रहस्यों और तत्त्वों का पाण्डित्यपूर्ण और गवेषणात्मक विवेचन जिस प्रकार उन्होंने किया है उसकी विद्वद् समाज ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के वेद महाविद्यालय में तीन दशाब्दी तक वैदिक साहित्य के प्रधान उपाध्याय रहने के पहले आप वर्षों तक लाहौर के दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय के आचार्य रहे। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य और कालान्तर में उसके कुलपति पद पर कार्य-व्यस्त रहते हुए भी आपने वैदिक साहित्य के अनुशीलन में कोई ढील नहीं की। आचार्य जी के अन्य ग्रन्थ **'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त'** को वैदिक साहित्य में अन्यतम स्थान प्राप्त है।

## भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित मानक साहित्य

- ☐ **महाभारत**
  स्वामी चिद्भवानन्द
- ☐ **रामायण**
  स्वामी चिद्भवानन्द
- ☐ **भारतीय धर्म एवं संस्कृति**
  डा० बुद्ध प्रकाश
- ☐ **भारतीय संस्कृति और विश्व सम्पर्क**
  डा० दामोदर सिंहल
- ☐ **प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार**
  डा० परमात्मा शरण
- ☐ **प्राचीन भारतीय प्रतिरक्षा व्यवस्था**
  आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
- ☐ **कुमारपाल चौलुक्य**
  डा० सत्य प्रकाश
- ☐ **भारतरत्न डा० भगवान् दास**
  आधुनिक भारत के महानतम मनीषी का जीवन-दर्शन
  श्री प्रकाश
- ☐ **आर्य समाज के सौ वर्ष**
  चन्द्र प्रकाश
- ☐ **नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के ऐतिहासिक पत्र**
  नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

मीनाक्षी प्रकाशन